06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 91

नारीवाद की भारतीयता

आयाम, अस्मिता और अंतरंगता

- निवेदिता मेनन
- अर्चना वर्मा
- उर्वशी बुटालिया
- फ़राह नक़वी
- अनीता घई
- रजनी तिलक

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 92

I

भारतीय नारीवाद : कितना देशज, कितना आयातित

अभय कुमार दुबे : इस परिचर्चा की एक छोटी सी पृष्ठभूमि यह है कि भारतीय आधुनिकता के विभिन्न रूपों की तलाश विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) का पुराना शग़ल रहा है, और ख़ुद मेरा भी। इस सिलसिले में मैंने 2009 में शिमला के इंस्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडीज़ में एक अध्ययन-सप्ताह का आयोजन भी किया था। उस कार्यक्रम में छब्बीस विद्वानों ने शिरकत की थी। उसका एक सत्र इसी विषय पर केंद्रित था जिसमें अनामिका, सविता सिंह तथा विमल थोराट जैसी विदुषियों ने शिरकत की थी। अध्ययन-सप्ताह की उन समस्त चर्चाओं को हमने तीन खण्डों में प्रकाशित भी किया। इस बार की चर्चा में हम नारीवादी विदुषियों के एक भिन्न पैनल के साथ उपस्थित हैं। मुझे उम्मीद है कि इस परिचर्चा में हम पिछले मुक़ाम से आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे। *प्रतिमान* के मंच पर विभिन्न विषयों पर इस तरह के चार संवाद आयोजित हो चुके हैं। उस क्रम में यह परिचर्चा एक नयी कड़ी होगी। अब मैं निवेदिता से गुज़ारिश करूँगा कि वे परिचर्चा को विधिवत् आगे बढ़ाएँ।

निवेदिता मेनन : शुक्रिया अभय, और दोस्तो। अभय ने जब भारतीय नारीवाद पर एक परिचर्चा करने और इसके सहभागियों को तय करने की ज़िम्मेदारी मुझे सौंपी तो एक-एक करके कई सूत्र मेरे ज़ेहन में कौंधे। मसलन, क्या भारतीय नारीवाद जैसी कोई चीज़ वाक़ई है? और अगर है तो वह किस तरह से भारतीय है और उसका सिलसिला कहाँ से शुरू होता है। बहरहाल, मेरे ख़याल से बीसवीं शताब्दी का अंत होते-होते हम यह बात स्वीकार कर चुके हैं कि कोई भी विचारधारा देश-काल से परे जा कर सार्वभौम नहीं होती। मार्क्सवाद हो या उदारतावाद— हर विचारधारा अपने एक ख़ास संदर्भ में अवस्थित होती है। उसका अपना एक विशिष्ट इतिहास और भूगोल होता है। इस तरह देखें तो विचार एक तरह की विशिष्ट स्थानिकता, इतिहास और भूगोल की अंत:क्रियाओं से जन्म लेते हैं। अब तक हम जिस परिघटना को ज्ञानोदय (ऐनलाइटेनमेंट) कहते थे, उसे अब हम जान-बूझकर युरोपीय ज्ञानोदय कहने लगे हैं। इसी तरह, जैसे मार्क्सवाद सार्वभौम विचारधारा नहीं है, ठीक उसी तरह नारीवाद भी सार्वभौम नहीं है। लेकिन भारत में नारीवाद की एक विशेषता यह रही है कि उसने कभी सार्वभौम होने का दावा भी नहीं किया। यहाँ जो भी ख़ुद को नारीवादी कहता था उसका एक विशेष स्थानिक संदर्भ होता था।

मेरे ख़याल से नारीवाद के संदर्भ में यह बहस शुरू में ही जड़ जमा चुकी थी कि भारतीय नारीवाद क्या है; क्या हम पश्चिम के नारीवाद का अनुगमन करते रहेंगे या अपना कोई निजी रास्ता तलाश करेंगे, आदि-आदि। ऐसे कई सवाल भारतीय नारीवाद के साथ शुरू से ही चलते रहे हैं। भारतीय नारीवाद की यात्रा में ऐसा कोई पड़ाव दिखाई नहीं देता जहाँ उसने किसी तरह की सार्वभौमिकता का दावा किया हो। इसके बरअक्स नारीवाद की मूल संज्ञा पर ध्यान दिया जाए तो पता चलता है कि एक लम्बे समय तक वह पश्चिमी नारीवाद का पर्याय बना रहा। इस धारणा को उभरने में तीन-चार दशक लगे कि नारीवाद कोई एकल विचारधारा नहीं है। उसमें अश्वेत महिलाओं, समलैंगिक महिलाओं तथा ट्रांस-जेण्डरों का नारीवाद भी है। इसी तरह नारीवाद का एक भारतीय रूप भी है। मैं इसे आपके समक्ष एक प्रश्न के तौर पर भी रखूँगी कि क्या भारतीय नारीवाद जैसी कोई शै आपको भी दिखाई देती है।

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 93

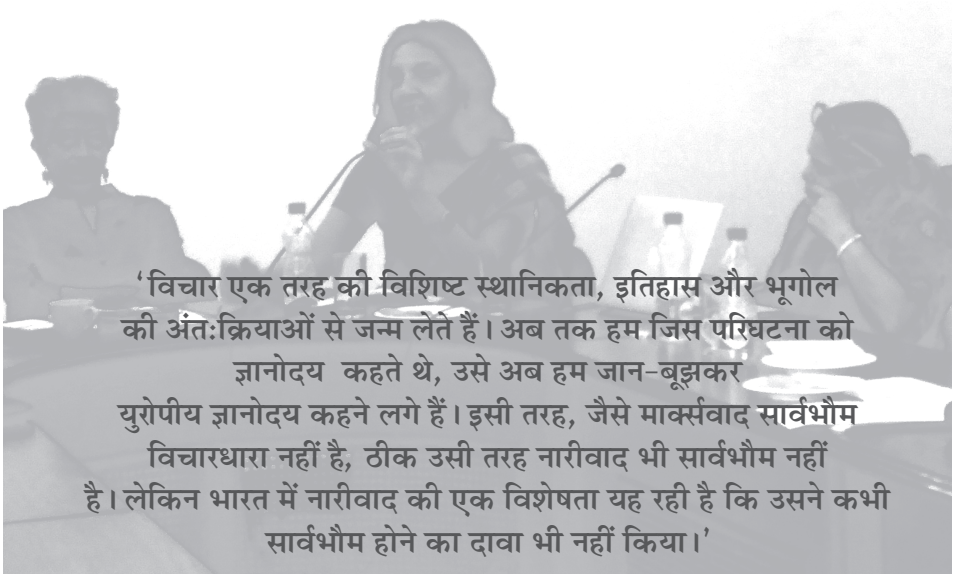

'विचार एक तरह की विशिष्ट स्थानिकता, इतिहास और भूगोल की अंत:क्रियाओं से जन्म लेते हैं। अब तक हम जिस परिघटना को ज्ञानोदय कहते थे, उसे अब हम जान-बूझकर युरोपीय ज्ञानोदय कहने लगे हैं। इसी तरह, जैसे मार्क्सवाद सार्वभौम विचारधारा नहीं है, ठीक उसी तरह नारीवाद भी सार्वभौम नहीं है। लेकिन भारत में नारीवाद की एक विशेषता यह रही है कि उसने कभी सार्वभौम होने का दावा भी नहीं किया।'

इस संदर्भ में मैं एक उदाहरण देना चाहूँगी। महिला-आरक्षण के मामले में फ्रांस और भारत में चलने वाली बहसों का मिज़ाज एक दूसरे से क़तई जुदा रहा है। फ्रांस में महिलाओं को अलग से राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्रदान करने की बात आते ही नागरिकता के पैरोकार इस आशंका से सहम जाते हैं कि इससे सार्वभौम नागरिकता का विचार संकटग्रस्त हो जाएगा। वहाँ इस बहस में शामिल कई लोगों को लगता है कि जेण्डर या नस्ल का प्रश्न उठाने से नागरिकता का आदर्श खण्डित हो जाएगा, क्योंकि उनकी निगाह में नागरिकता एक सार्वभौम धारणा है। ऐसे लोगों का मानना है कि फ्रांसीसी क्रांति से उपजे नागरिकता और आधुनिकता जैसे मूल्य सार्वभौम महत्त्व रखते हैं। इसके विपरीत, भारत में देखें तो महिला-आरक्षण के प्रश्न पर कोई सार्वभौम क़िस्म का प्रतिवाद खड़ा नहीं हो पाया है। यहाँ कोई भी पक्ष यह नहीं कह सकता कि महिलाओं को आरक्षण की ज़रूरत नहीं है। यहाँ महिला-आरक्षण की बहस का ज़ोर इस बात पर है कि आरक्षण के भीतर आरक्षण की व्यवस्था कैसे की जाए। इस मामले में कई लोगों के आग्रहों में पितृसत्तावाद की बू आती है। 'परकटी' जैसे उपहासपूर्ण शब्दों का इस्तेमाल इसी तरफ़ इशारा करता है। लेकिन, मेरा मानना है कि महिला-आरक्षण के मामले में पिछड़े वर्ग के नेताओं का विरोध जायज़ है क्योंकि इससे उनका राजनीतिक भविष्य दाँव पर लग सकता है। बहरहाल, इस परिचर्चा में ऐसे और भी कई सवालों पर मंथन करेंगे।

इस पैनल में हमारे साथ अर्चना वर्मा, अनीता घई, उर्वशी बुटालिया और रजनी तिलक के साथ फ़राह नक़वी शामिल हैं। अर्चनाजी ने विभूति नारायण राय-मैत्रेयी पुष्पा विवाद में पितृसत्ता और यौन-शुचिता (फ़िडेलिटी) जैसे मुद्दों पर धारदार हस्तक्षेप किया था। अनीता घई शारीरिक विकलांगता से संबंधित मसलों पर काम करती हैं। उर्वशी बुटालिया नारीवादी विषयों से संबंधित लेखन की प्रसिद्ध प्रकाशक हैं। उन्होंने रितु मेनन के साथ मिल कर भारत का पहला नारीवादी प्रकाशन 'काली फ़ॉर वुमॅन' स्थापित किया था। इसके बाद उन्होंने एक और नारीवादी प्रकाशन 'ज़ुबान' शुरू किया जिसका वे आजकल संचालन कर रही हैं। फ़राह नक़वी लम्बे अरसे से नारीवादी आंदोलन में सक्रिय हैं। आजकल वे साम्प्रदायिक हिंसा, विशेष तौर से स्त्रियों के ख़िलाफ़, के शमन पर ध्यान दे रही हैं। रजनी तिलक आम्बेडकरवादी बुद्धिजीवी और एक्टिविस्ट हैं। वे काफ़ी अरसे से नारीवादी आंदोलन

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 94

में सक्रिय हैं। मुझे लगता है कि इस तरह की बातचीत भी भारतीय नारीवादी आंदोलन का ही अंग है। पहले यह स्पेस द्विज हिंदू मानसिकता से आक्रांत होता जा रहा था। फिर धीरे-धीरे नयी पहचानें सामने आयी और नये सवाल नुमाया होने लगे। ठीक यहीं से हमें इस परिचर्चा के दूसरे सूत्र का सुराग़ मिलता है। और वह सूत्र यह है कि नयी उभरती पहचानों/अस्मिताओं के प्रति क्या रुख़ अपनाया जाए? उनसे कैसे संवाद किया जाए? अब मैं इस सत्र के पहले सवाल पर लौटती हूँ कि क्या हमारे यहाँ भारतीय नारीवाद जैसे कोई चीज़ है? और अगर वह है तो उसकी अपनी विशिष्टताएँ क्या हैं। मैं उर्वशी से गुज़ारिश करती हूँ कि वे इस चर्चा की शुरुआत करें।

उर्वशी बुटालिया : मैं सबसे पहले यह कहना चाहूँगी कि आजकल 'भारतीय' शब्द का उपयोग करना कुछ संदिग्ध हो गया है। इसलिए जब कोई भारतीय नारी जैसे शब्द का इस्तेमाल करता है तो एकबारगी ऐसा लगता है कि जैसे इस दौरान वह कोई ख़ास चीज़ बन गयी है। लेकिन हाँ, आपके पहले सवाल के जवाब में मैं कहूँगी कि भारतीय नारीवाद हर तरह से सार्थक अवधारणा है। हमारा नारीवाद हमारे संदर्भ और इतिहास से जुड़ा हुआ है। यहाँ मैं एक उदाहरण के ज़रिये अपनी बात रखना चाहूँगी। एक अरसा पहले मैंने एक किताब पढ़ी थी जिसका शीर्षक था *द फ़ेमिनिस्ट पेपर्स*। यह किताब पश्चिमी नारीवाद पर केंद्रित थी। इस किताब की भूमिका में लिखा था कि उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के दौर में जब पश्चिम में नारीवाद का जन्म हुआ तो बाक़ी दुनिया में ऐसी कोई अवधारणा मौजूद नहीं थी। और, देखिए कि यह ठीक वही समय था जब भारत में मुक्ताबाई साल्वे, ताराबाई शिंदे तथा सावित्रीबाई फुले जैसी महिलाएँ बहुत से बुनियादी प्रश्न उठा रही थीं। लेकिन पश्चिम को इस बात का कोई अंदाज़ा नहीं था कि दुनिया के इस हिस्से में क्या चल रहा है। असल में जब आपके पास सत्ता होती है तो आप स्वयं को चीज़ों का मानक या प्रतिमान समझ लेते हैं। पश्चिमी नारीवाद का रवैया ठीक ऐसा ही रहा है। एक लम्बे समय तक वह यही मानता रहा कि वैश्विक नारीवाद के नाम पर अगर कहीं कुछ है तो वही है। ख़ुद को मानक मानने की इस प्रवृत्ति में यह अपेक्षा भी निहित थी कि शेष विश्व की नारीवादी धाराओं को पश्चिम के इसी नारीवाद का अनुसरण करना चाहिए। उसने यह पहलू पूरी तरह बिसरा दिया कि हर परिघटना का अपना संदर्भ और इतिहास होता है। जैसे कि हमारे यहाँ भी ऊँची जाति के लोग अपने अनुभव को मानक मानकर चलते हैं। वे यह मानने को तैयार नहीं होते कि कमज़ोर या दलित जाति के लोगों का भी अपना अनुभव होता है। इसी तरह मुझे लगता है कि नारीवाद का वैश्विक इतिहास कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति से ग्रस्त रहा है।

लेकिन जैसा कि आपने बताया भारत के नारीवाद और पश्चिम के नारीवाद में ख़ासा अंतर है। आपने बताया ही कि महिला-आरक्षण के विषय में फ्रांस और भारत में चलने वाली बहस बुनियादी तौर पर अलग है। धर्म की भूमिका के लिहाज़ से देखें तो हमारा या पाकिस्तान का नारीवाद पश्चिमी नारीवाद से बहुत अलग तरह का है। पश्चिमी नारीवाद धर्म से दूरी बरत सकता है, उससे मुक्त रह सकता है, लेकिन हमें धर्म के भीतर रह कर काम करना पड़ता है। हमारे पास धर्म से अलग होने का विकल्प नहीं है। दूसरी बात, हमारा नारीवाद हमारे इतिहास से जुड़ा हुआ है। जैसा कि मैंने शुरू में ज़िक्र किया था। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे यहाँ अनेक महिलाएँ बुनियादी सवाल उठा रही थीं। नारीवाद की दृष्टि से उन्हें हम अपने पूर्वजों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसके बाद बीसवीं शताब्दी में भी ऐसी कई महिलाएँ दिखाई देती हैं जिनकी सक्रियता का दायरा संस्थाओं के निर्माण से लेकर स्वाधीनता आंदोलन में भागेदारी तक फैला था। स्वाधीनता के आंदोलन में महिलाओं की भूमिका सिर्फ़ दिखावे की नहीं थी। उन्होंने नमक आंदोलन से लेकर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार जैसी कार्रवाई में शिरकत की थी। इस तरह उनकी मौजूदगी का आंदोलन के चरित्र पर एक विशिष्ट प्रभाव रहा था। इस दौर में ये महिलाएँ ख़ुद को बेशक नारीवादी न कहती हों, लेकिन इक्कीसवीं सदी में जब हम ख़ुद

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 95

हम नारीवाद की संघर्ष-चेतना के विभिन्न सूत्रों को आपस में जोड़ कर नहीं देख सके। संसाधनों के अभाव के कारण दलित महिलाओं के आंदोलन का दस्तावेज़ तैयार नहीं किया जा सका। इसलिए वह हमेशा एक अधीनस्थ स्थिति में बना रहा और मुख्यधारा के नारीवाद में उसकी भूमिका साफ़ ढंग से नहीं उभर सकी।

को नारीवादी कहती हैं तो इसमें वह इतिहास अनिवार्य रूप से शामिल है। आज़ादी के बाद जब बढ़ती क़ीमतों या अधिकार आदि को लेकर जनांदोलन शुरू हुए तो उनमें भी महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। तेभागा आंदोलन हो या तेलंगाना का आंदोलन— महिलाओं की उपस्थिति हर जगह उल्लेखनीय थी। उन्होंने न केवल इन आंदोलनों में भाग लिया बल्कि पितृसत्ता पर भी सवाल उठाए। इस प्रकार हमारा नारीवाद कोई बाहर से आयी चीज़ नहीं थी। उसके पीछे संघर्षों की एक लम्बी परम्परा थी। हमारे नारीवाद में जाति और धर्म के प्रश्न उसे एक विशिष्ट चरित्र प्रदान करते हैं। लेकिन इसके बावजूद नारीवाद के कई तत्त्व ऐसे भी हैं जिनके इर्द-गिर्द महिलाओं को व्यापक स्तर पर लामबंद किया जा सकता है। मसलन, महिलाओं के मामले में शारीरिक और यौन हिंसा आदि ऐसी साझी समस्याएँ हैं जिनके इर्द-गिर्द पूरी दुनिया की महिलाओं को इकट्ठा किया जा सकता है। इस तरह, भारतीय नारीवाद का अपना एक अनूठा अस्तित्व है। वह यहाँ की मिट्टी और इतिहास से पनपा है। लेकिन, इसके कई पहलू ऐसे भी हैं जो वैश्विक नारीवाद के साथ भी क़दमताल करते हैं।

रजनी तिलक : मेरा मानना है कि भारत में नारीवादी सोच की परम्परा ख़ासी पुरानी है। बौद्ध धर्म की *थेरीगाथा* में कई ऐसी कविताएँ मिलती हैं जो स्त्रियों के संत्रास, दमन, जातिगत भेदभाव और पितृसत्ता के प्रति उनके रोष को बड़े प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। उसके बाद उन्नीसवीं सदी में हम सावित्रीबाई फुले में जैसे इसी धारा का विस्तार देखते हैं। अपनी कविताओं में सावित्रीबाई ख़ुद को मूलनिवासी और भारतीय घोषित करती हैं। सावित्रीबाई ख़ास तौर पर बालिकाओं की शिक्षा के बारे में बात करती हैं। वे कहती हैं कि महिलाओं को शिक्षा से इसलिए दूर रखा जाता है क्योंकि इससे पुरुषों के प्रभुत्व पर आँच आती है। सावित्रीबाई और जोतिबा फुले ने जब पुणे में बालिका विद्यालय शुरू किया तो उसमें आठ बालिकाएँ पढ़ने के लिए आयीं। इनमें पाँच बालिकाएँ ब्राह्मण, दो मांग तथा एक मातंग समुदाय की थी। इस प्रकार सावित्रीबाई और जोतिबा के इस अभियान में सभी समुदायों की महिलाएँ शामिल थीं। हम थोड़ा-सा और आगे बढ़े तो देखते हैं कि डॉ. आम्बेडकर के जाति-विरोधी संघर्ष में भाग लेने वाली दलित स्त्रियाँ एक तरह से नारीवादी माँग ही उठा रही थीं। इन महिलाओं की माँग थी कि सभी स्त्रियों को शिक्षा मिलनी चाहिए; महिलाओं के लिए छात्रावास बनाए जाने चाहिए तथा उन्हें विधायिकाओं में आरक्षण मिलना चाहिए। 1942 में नागपुर में पच्चीस हज़ार महिलाएँ इकट्ठा हुई थीं। इस सभा के कई प्रस्तावों को आम्बेडकर ने हिंदू कोड बिल में शामिल किया था। इसका साक्ष्य उर्मिला पवार तथा मीनाक्षी मून की किताब में देखा जा सकता है। समता सैनिक दल ने नागपुर के इस सम्मेलन के विषय में एक दस्तावेज़ भी तैयार किया है। इसके आधार पर यह बात बेखटके कही जा सकती है कि भारत में नारीवाद सत्तर के दशक में शुरू नहीं हुआ, बल्कि इसकी जड़ें बहुत पीछे तक जाती हैं।

महिलाओं के संघर्ष के प्रतिमान बहुत पुराने हैं। लेकिन हुआ यह है कि हम नारीवाद की संघर्ष-

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 96

चेतना के विभिन्न सूत्रों को आपस में जोड़ कर नहीं देख सके। संसाधनों के अभाव के कारण दलित महिलाओं के आंदोलन का दस्तावेज़ तैयार नहीं किया जा सका। इसलिए वह हमेशा एक अधीनस्थ स्थिति में बना रहा और मुख्यधारा के नारीवाद में उसकी भूमिका साफ़ ढंग से नहीं उभर सकी। जहाँ तक भारतीय नारीवाद की बात है तो मैं यह स्पष्ट रूप से मानती हूँ कि हमारा नारीवाद एक विशिष्ट प्रकार का नारीवाद है जो बौद्ध काल से लेकर समकालीन समय तक विभिन्न रूपों में मौजूद रहा है। यहाँ मैं एक बात और जोड़ना चाहती हूँ। दलित महिलाओं ने विवाह के प्रश्न पर भी विचार किया था। मैंने जिस सम्मेलन का उल्लेख किया है उसमें एक प्रस्ताव पारित किया गया था कि पहला वैवाहिक संबंध होते हुए दूसरा वैवाहिक संबंध नहीं बनाया जाना चाहिए क्योंकि ऐसे संबंध का सारा ख़मियाज़ा महिलाओं को ही भुगतना पड़ता है। उस सम्मेलन में प्रसूति के मुद्दे पर सवाल उठाया गया था। सम्मेलन में माँग की गयी थी कि प्रसूति के लिए मज़दूरी मिलनी चाहिए। बाद में आम्बेडकर इन मसलों को समय समय पर उठाते रहे। उन्होंने ज़मीन से उठते इन स्वरों को अपने लेखन में बाक़ायदा शामिल किया। सामान्यत: लोगबाग़ आम्बेडकर को संविधान के निर्माता के तौर पर ही जानते हैं लेकिन महिलाओं के अधिकारों के मामले में भी उनकी एक बड़ी भूमिका रही थी। असल में, दलित महिलाओं के लिए धार्मिक अस्पृश्यता एक बड़ा मुद्दा था क्योंकि इसके कारण उनके रोज़मर्रा के अधिकार— पानी पीने, अच्छे कपड़े पहनने और अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान करने और गरिमापूर्ण जीवन जीने की सम्भावना आहत होती थी। बौद्ध काल में ब्राह्मण भिक्षुणियों को रण्डी कहकर अपमानित करते थे क्योंकि उनके अनुसार ऐसी महिलाएँ हिंदू धर्म की परम्पराओं पर सवाल उठाती थीं। इस तरह दलित महिलाओं का आंदोलन पितृसत्ता के साथ-साथ धार्मिक मूल्यों को प्रश्नांकित करता रहा है। दलित आंदोलन ने इन सवालों पर ख़ास ध्यान नहीं दिया है। कभी-कभी ऐसे सवाल भी उठते हैं कि चूँकि दलित पुरुष और महिलाएँ धार्मिक भेदभाव के ख़िलाफ़ संयुक्त संघर्ष करते हैं इसलिए दलित महिलाएँ पितृसत्ता के दायरे में रहकर काम करती हैं। असल में यहाँ पेच यह है कि सत्ता मुखर लोगों के हाथ ही लगती है। जो लोग अपनी बात दमदार ढंग से और आगे बढ़ कर नहीं कह पाते वे पीछे रह जाते हैं। यह बात दलित आंदोलन, नारीवादी आंदोलन या किसी भी प्रकार के राजनीतिक आंदोलन पर भी लागू होती है। ऐसे तमाम आंदोलनों में ताक़तवर और सत्तासीन लोगों की बात को ज़्यादा महत्त्व दिया जाता है और पीछे की आवाज़ें हाशिये पर रह जाती हैं।

अचर्ना वर्मा : मैं शुरू में ही कह दूँ कि नारीवाद से मेरा सैद्धांतिक परिचय बहुत गहरा नहीं है। मैं नारीवाद को साहित्य के ज़रिये ही समझती हूँ। बाईस साल *हंस* और पिछले सात-आठ सालों से *कथादेश* के साथ काम करते हुए मैं स्त्रियों के लेखन में आये बदलाव की साक्षी रही हूँ। मैंने यह चीज़ बहुत नज़दीक से देखी है कि कैसे एक मुद्दा छनकर आता है; पहले वह हमारी चेतना का और फिर हमारी अभिव्यक्ति का हिस्सा बनता है। मैं नारीवाद को जिस तरह समझती हूँ उसका दूसरा संदर्भ मेरा अध्यापकीय अनुभव है। मैंने मिराण्डा हाउस के हिंदी विभाग में 45 साल अध्यापन किया है। यह कॉलेज मूलत: अंग्रेज़ी माध्यम का कॉलेज है। हिंदी, संस्कृत और एक समय तक बांग्ला को छोड़कर बाक़ी सारे ऑनर्स विषय अंग्रेज़ी में पढ़ाए जाते थे। कॉलेज के बृहत्तर स्त्री-समाज में हिंदी का एक छोटा-सा समाज था। हिंदी पढ़ने वाली लड़कियों का समाज एक सिकुड़ा और सहमा हुआ सा समाज था। उन्हें दूसरे साल के बाद यह यक़ीन नहीं होता था कि उनकी पढ़ाई आगे जारी रहेगी कि नहीं। उन्हें डर लगा रहता था कि उनकी पढ़ाई छुड़ा कर कहीं शादी कर दी जाएगी। अगर हम कभी यह कोशिश भी करते थे कि वे अपने आत्म की पहचान करें या अपने होने को महत्त्व दें तो हम बहुत सफल नहीं हो पाते थे। असल में, उनकी समस्याएँ विद्रोह से पहले ही ख़त्म हो जाती थी।

तो, नारीवाद के विषय में मेरी जो भी समझदारी है वह इस तरह के प्रेक्षण और निजी अनुभवों

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 97

हिंदी के इस समाज में आपको अगर पुरुषों का एक मिला-जुला वर्ग मिलता है तो साथ में एक ऐसा वर्ग भी मौजूद है जो महिलाओं के सवालों के प्रति विकट बैरभाव रखता है। इस वर्ग की तान ही इस नुक़्ते से शुरू होती है कि नारीवादी विमर्श एक बाहरी चीज़ है। इससे औरतें बिगड़ रही हैं।

से बनी है। जहाँ तक भारतीय नारीवाद के अस्तित्व का प्रश्न है तो मैं कहूँगी कि हाँ, भारतीय नारीवाद है भी और नहीं भी है। यह बात मैं साहित्य के मार्फ़त कह रही हूँ। हिंदी के भाषाई समाज में एक बदलाव तो ज़रूर आया है कि अब इसमें अलग-अलग वर्ग और पेशों से जुड़े लोग लेखन में आने लगे हैं, लेकिन हिंदी का समाज मूलत: एक निम्न-मध्य वर्गीय तथा क़स्बाई मानसिकता का समाज है। हिंदी के इस समाज में आपको अगर पुरुषों का एक मिला-जुला वर्ग मिलता है तो साथ में एक ऐसा वर्ग भी मौजूद है जो महिलाओं के सवालों के प्रति विकट बैर-भाव रखता है। इस वर्ग की तान ही इस नुक़्ते से शुरू होती है कि नारीवादी विमर्श एक बाहरी चीज़ है। इससे औरतें बिगड़ रही हैं। उन्हें लगता है कि इसके कारण दुनिया जैसे रसातल को जा रही है। लखनऊ में *कथाक्रम* के आयोजन में तो एक पत्रकार ने मेरा इंटरव्यू करते हुए बात ही यहाँ से शुरू की : *क्या हमें बुज़ुर्गों की यह बात मान लेनी चाहिए कि दुनिया रसातल को जा रही है?* उनके हिसाब से दुनिया रसातल को इसलिए जा रही है कि स्त्रियाँ अधिकार माँग रही हैं; स्त्रियाँ प्रेम को शर्म की बात नहीं मान रहीं; वे अपने विवाहेतर संबंधों के बारे में खुलकर बोलती हैं, आदि-आदि। इस दृष्टि से तो भारतीय नारीवाद कहीं दिखाई नहीं देता क्योंकि पितृसत्ता के विरुद्ध बोलने वाली महिलाओं को ख़राब समझा जाता है। लोगों को लगता है कि ऐसी स्त्रियों के कारण घर-समाज बिगड़ रहा है। *हंस* के सम्पादक राजेंद्र यादव तो किसी किसी कहानी से पहले ब्रैकेट में लिख देते थे कि यह कहानी महिलाओं और बच्चों के पढ़ने के लिए नहीं है।

लेकिन, दूसरी तरफ़ तो स्पष्ट है कि हमारे यहाँ एक क़िस्म का नारीवाद है जिसे बेशक भारतीय कहा जा सकता है। हमारे यहाँ चिंतन की पारम्परिक पद्धति विचार के दो पक्ष मानकर चलती है : एक सैद्धांतिक पक्ष और दूसरा व्यावहारिक पक्ष। सिद्धांत में तो नारीवाद एक विशुद्ध अमूर्त विचार है जो दुनिया के किसी भी कोने में सच हो सकता है। लेकिन व्यवहार में वह अपनी दुनिया में ही फलीभूत हो सकता है। मैं कहना चाहूँगी कि हमारे मिराण्डा हाउस में जितने विभाग थे उतनी ही तरह के नारीवाद थे और उतनी ही तरह के विद्रोह भी थे। आख़िर जो जहाँ खड़ा होता है वहीं से अगला क़दम उठाता है। कुएँ के भीतर से उसकी जगत पर आने तक की यात्रा को तुच्छ मानते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि अरे, वह अभी तक कुएँ से बाहर आया ही कहाँ है! मुझे याद आता है कि एक बार मृणाल पाण्डे पहाड़ के एक अनुभव के बारे में बता रही थीं। वहाँ कोई समूह स्थानीय स्त्रियों के बीच काम करता था। यह समूह स्थानीय स्त्रियों को बता रहा था कि मंगलसूत्र तुम्हारे लिए एक बोझ है। मृणाल ने बताया कि यह सुनकर उन महिलाओं ने समूह की एक भी बात नहीं सुनी। आप उनसे ऐसी बात एकदम नहीं कर सकते। आप यहाँ से शुरुआत नहीं कर सकते कि ये मंगलसूत्र आपके गले में पड़ा पत्थर है। असल में, यह व्यावहारिकता की बात है कि आप कौन सी चीज़ कहाँ लागू कर सकते हैं। कौन सी बात किस संदर्भ से शुरू हो सकती है इसका अंदाज़ा वहाँ बैठकर ही लगाया जा सकता है। तो हमारे समाज का एक हिस्सा ऐसा है जहाँ हमें अपनी लड़ाई से इस बात से शुरू करनी होगी

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 98

कि हम जो कह रहे हैं वह कोई पराया विचार नहीं हमारी अपनी ज़िंदगी का क़िस्सा है... कि हम यह सब किसी के प्रभाव में या किसी की नक़ल में नहीं कह रहे हैं। मैं किसी कार्यक्रम में जाती हूँ तो अपने पुरुष मित्रों से हमेशा कहती हूँ कि मैं बेहद आक्रोश से भरी जनता का सामना करने जा रही हूँ पर आप इन कहानियों को इस इस तरह से पढ़ें। इसमें आपके ख़िलाफ़ शिकायतें ज़रूर हैं लेकिन आप इन्हें सुनिए।

अनीता घई : अभी जब आप इतिहास के बारे में बात कर रहे थे तो मेरा ध्यान गया कि विकलांगता का प्रश्न आम्बेडकर या सावित्रीबाई ने भी नहीं उठाया है। शिक्षा नीति के संदर्भ में इसका उल्लेख केवल कोठारी समिति की रिपोर्ट में आता है। रिपोर्ट में यह उल्लेख विकलांग (तब इसके लिए 'हैण्डीकैप्ड' शब्द का प्रयोग किया जाता था) बच्चों की शैक्षिक समस्याओं के संदर्भ में किया गया था। आपातकाल के दौरान मैं इंद्रप्रस्थ कॉलेज में मनोविज्ञान पढ़ रही थी। तब मैंने पहली बार एडलर द्वारा प्रतिपादित हीनता-ग्रंथि के बारे में पढ़ा। एडलर ख़ुद बीमार रहा करते थे। विकलांगता की तरफ़ मेरा ध्यान पहली बार तभी गया था। लेकिन तब मैं इसे इतनी गम्भीरता से नहीं लेती थी क्योंकि मैं एक ऐसे परिवार में जन्मी थी जहाँ अड़सठ साल के बाद कोई लड़की पैदा हुई थी। जन्म के तीन साल बाद मुझे पोलियो हो गया था। बहरहाल, परिवार के लोग अक्सर कहा करते थे कि शिक्षा मेरे लिए बहुत ज़रूरी है। इसे शायद इसलिए ज़रूरी बताया जाता था कि क्योंकि मेरे जीवन में शादी और बहुत सी अन्य चीज़ें नहीं होंगी। इसके अलावा मुझे यह भी बताया जाता था कि मुझे बहादुर लड़की बनना है। खैर, उस समय कॉलेज में कुमकुम सांगरी जैसी अध्यापिकाएँ थी। यह माहौल आपको स्वभाविक तौर पर नारीवाद की ओर ले जाता था। उस समय मेरे सवाल दहेज और लड़कियों से छेड़खानी जैसी घटनाओं से जुड़े रहते थे।

आठवें दशक के शुरू में जब मैंने एमए पूरा किया और आईएएस का फॉर्म लेने गयी तो मुझसे पूछा गया कि आप ये फॉर्म किसके लिए ले रही हैं। मैंने कहा कि अपने लिए ले रही हूँ। उन्होंने कहा कि तुम तो ये फॉर्म नहीं भर सकती। तो मुझे जीवन में पहली बार चोट-सी लगी कि मेरा दिमाग़ तो बिलकुल ठीक है लेकिन अपने शरीर के कारण मैं बहुत आगे नहीं जा सकती। मेरे विचार शायद इस घटना के बाद बदलने शुरू हुए। मुझे हमेशा यह लगता था कि हमारी समस्याएँ और स्थिति अलग तरह की थीं। परिवार में मेरी एक चाची थीं जिन्होंने लड़के की चाहत में दस लड़कियाँ पैदा कीं। यहाँ से मुझमें यह समझ पैदा हुई कि लड़के और लड़की का यह अंतर हमारे समाज में दूर तक जाता है। और इससे बहुत सारी चीज़ें तय होती हैं। चिता को अग्नि बेटा देता है बेटी नहीं। ऐसी चीज़ों से साफ़ ज़ाहिर है कि भारत का नारीवाद अपनी अलग ज़मीन पर खड़ा है। मेरी समझ में हमारे यहाँ भी क़िस्म-क़िस्म के नारीवाद हैं। मिसाल के तौर पर, विकलांग लड़कियों का नारीवाद तो मुख्यधारा के नारीवाद से अलग ही है। ऐसी लड़कियाँ सड़क पर नहीं जातीं, सीढ़ियाँ नहीं चढ़तीं; शिक्षा के क्षेत्र में उनके रास्ते बहुत दूर तक नहीं जाते। और इसी कारण मैं महिलाओं के कथित बहनापे (सिस्टरहुड) से बहुत आश्वस्त नहीं हो पाती। विकलांग लड़कियों को जिस तरह अलग या विशेष मान लिया जाता है वह मुझे एक विकट समस्या लगती है। आख़िर उनमें अलग क्या है ?

कई बार लगता है कि मुख्यधारा के नारीवाद में विकलांग महिलाओं का रस्मी तौर पर ही ज़िक्र किया जाता है। उन्हें बस नाम के लिए शामिल कर लिया जाता है। मुझे लगता है कि दलित महिलाओं के प्रति भी नारीवाद का कुछ ऐसा ही रवैया रहा है। उन्हें केवल सूची में जोड़ा जाता है। मुझे लगता है भारतीय नारीवाद में उन्हें अपने अवयव के रूप में स्वीकार नहीं किया है। असल में हम जिसे युनिवर्सल या सार्वभौम कहते हैं उसमें भी वही नॉर्म समझा जाता है जो चल सकता है, बोल सकता है या देख सकता है। अगर कोई इस नॉर्म (मानक) से ज़रा भी अलग होता है तो उसे रियायत की

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 99

विकलांग लड़कियों का नारीवाद तो मुख्यधारा के नारीवाद से अलग ही है। ऐसी लड़कियाँ सड़क पर नहीं जातीं, सीढ़ियाँ नहीं चढ़तीं; शिक्षा के क्षेत्र में उनके रास्ते बहुत दूर तक नहीं जाते। और इसी कारण मैं महिलाओं के कथित बहनापे (सिस्टरहुड) से बहुत आश्वस्त नहीं हो पाती।

नज़र से देखा जाने लगता है। उस पर लोग तरस खाने लगते हैं। *मनुस्मृति* जैसे ग्रंथों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि अगर कोई लड़की शारीरिक रूप से विकलांग हो तो उसका ज़्यादा दहेज के साथ विवाह कर देना चाहिए। इसके पीछे भाव यही है कि अगर आप में कोई कमी है तो उसकी क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए। मैं यह तो नहीं कहूँगी कि हमारे नारीवाद में इन चीज़ों की तरफ़ क़तई ध्यान नहीं दिया गया है लेकिन फिर भी ऐसे पहलुओं के प्रति सहज संवेदनशीलता दिखाई नहीं देती। मुझे लगता है प्रधानमंत्री ने विकलांगता के संदर्भ में 'दिव्यांग' का प्रयोग करके हम जैसे लोगों को दैवीय और शैतान के विभाजन में फँसा दिया है। बहुत-सी औरतें अपने घरों से निकल ही नहीं पाती। इस मायने में भारतीय नारीवाद का दायरा थोड़ा सीमित और सँकरा नज़र आता है।

निवेदिता : फ़राह सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से आप एक ख़ास स्थिति-बिंदू से ताल्लुक़ रखती हैं। हममें बहुत से लोग ख़ुद को हिंदू या मुसलमान नहीं समझते थे। लेकिन पिछले डेढ़-दो दशकों के दौरान हमें ज़बर्दस्ती याद दिलाया गया है कि हमारी धार्मिक पहचान क्या है। अगर हम यह कहते हैं कि हम हिंदू नहीं हैं तो हमसे बोलने का अधिकार ही छीना जा रहा है। इस तरह हिंदुत्व के ख़िलाफ़ हमें हिंदू बनकर बोलना पड़ता है। तो ज़ाहिर है कि सेकुलर क़िस्म के मुसलमानों के लिए भी यह स्थिति ख़ासी मुश्किल रही होगी। हम आपको एक फ़ेमिनिस्ट ऐक्टिविस्ट के तौर पर जानते हैं। इस बीच आप अल्पसंख्यकों के सवालों पर ख़ास ध्यान देने लगी हैं।

फ़राह नक़वी : अव्वल तो मैं नारीवाद को ही प्रश्नांकित करना चाहूँगी। हमें पहले यह भी तय करना होगा कि हम नारीवादी सोच की बात कर रहे हैं या नारीवादी आंदोलन की, क्योंकि इन दोनों में परस्पर-व्याप्ति के साथ भिन्नताएँ भी हैं। क्या दिल्ली में निर्भया प्रकरण के बाद उभरा रोष नारीवाद का हिस्सा है? उस आंदोलन में जिन नौजवान लड़के-लड़कियों को देखा उनके कुछ नारे हमारी सोच से मेल खाते थे तो कुछ अलग दिशा में जाते थे। लेकिन मैं कहूँगी कि ये भी एक प्रकार का नया नारीवाद है। हमें ऐसी चीज़ों को किसी न किसी तरह अपने फ्रेमवर्क में शामिल करना होगा। मैं बेशक कहूँगी कि हमारे यहाँ एक क़िस्म की नारीवादी सोच भी मौजूद है और नारीवादी आंदोलन भी मौजूद है। लेकिन इससे पहले हमें यह भी सोचना होगा कि संविधान में हमें जिस प्रकार के अधिकार दिये गये थे वे किस राजनीतिक दर्शन की उपज हैं? क्या संविधान में प्रदत्त मूल अधिकार हिंदुस्तान के राजनीतिक चिंतन से पैदा हुए थे? या ऐसे अधिकार युरोपीय ज्ञानोदय से निकले थे? मैं ये सवाल इसलिए उठा रही हूँ क्योंकि संवैधानिक अधिकारों से सम्पन्न नागरिक की अवधारणा तो भारतीय उपमहाद्वीप की सामंती और जातिवादी ज़मीन की क़तई नहीं है। तो अगर हम यह कहें कि संविधान भारतीय है तो फिर नारीवाद सोच भी भारतीय है। लेकिन अगर हम यह मानते हैं कि हमारे संविधान की जड़ें और उसका अवधारणागत ढाँचा युरोप के उदारतावाद-ज्ञानोदय-लोकतंत्र जैसे प्रत्ययों से मिल

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 100

कर बना है तो फिर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि भारतीय नारीवाद का विचार भी नितांत देशज नहीं है।

ग़ौर करें कि नारीवाद का मूल विचार अधिकार-सम्पन्न नागरिकता की ज़मीन पर खड़ा है और जैसा कि मैंने अभी कहा था संवैधानिक अधिकारों से लैस नागरिक की परिकल्पना भारतीय उपमहाद्वीप की नहीं है। लेकिन रोज़मर्रा के व्यवहार में नारीवादी सोच भारत की अपनी परिस्थितियों से मुख़ातिब रही है। इस मामले में हम उन्नीसवीं सदी के सामाधिक सुधार आंदोलनों का हवाला दे सकते हैं। सती-प्रथा के विरुद्ध उभरे आंदोलन को मैं नारीवाद सोच की दिशा में एक ख़ास मुक़ाम मानती हूँ क्योंकि इससे यह विचार मज़बूत हुआ कि पति की मृत्यु के बाद स्त्री का जीवन समाप्त नहीं हो जाता। नारीवादी सोच के इतिहास में हमने आज़ादी, बराबरी और न्याय की शब्दावली को तो बहुत जल्दी अपना लिया लेकिन एक मूल्य के रूप स्वायत्तता (ऑटोनॉमी) की तरफ़ हमारा ध्यान बहुत बाद में गया। मुझे लगता है कि स्वायत्तता हमारे यहाँ की उपज नहीं है। हम अपने समाज और समुदाय में हमेशा एम्बेडिड रहे हैं। मुझे लगता है कि स्वायत्तता के मुद्दे पर नारीवादी आंदोलन क़ायदे से संघर्ष नहीं कर पाया है।

यह अवधारणा हमने कहीं पीछे रख दी है। मेरा मानना है कि हमारे यहाँ परिवार की बनावट स्त्री-पुरुष की रूढ़िगत लैंगिकता (हेटरोनॉर्मेटिव न्यूक्लियर फ़ैमिली) पर आधारित छोटे परिवार की है। और हम उस पर सही सवाल खड़े नहीं कर पाए हैं। मेरे हिसाब से भारत के नारीवादी आंदोलन के समक्ष यह चुनौती आज भी खड़ी है। और, उस पर वार करने के हमारे औज़ार भोथरे हो गये हैं। हम कभी यह रणनीति अपनाते हैं कभी वह रणनीति अपनाते हैं लेकिन हम अब उस पर सीधा वार नहीं करते। मुझे लगता है कि हमने अब वह मैदान ख़ाली छोड़ दिया है। हम कई बार वैवाहिक बलात्कार की बात करते हैं लेकिन मेरी निगाह में यह एक व्यर्थ का प्रश्न है क्योंकि जब तक विवाह की संस्था बरक़रार रहती है तब तक वैवाहिक बलात्कार पर रोक लगाना नामुमकिन है। दरसअल, विवाह ही वैवाहिक बलात्कार का ढाँचा है। आप मुझे अपना शरीर, अपना गर्भ दीजिए और मैं आपकी देखभाल करूँगा— ये तो एक कांट्रैक्ट हुआ! तो मुझे लगता है कि एक ओर हम वैवाहिक संबंध में बलात्कार का रोना रोते हैं और दूसरी तरफ़ हम परिवार की पारम्परिक संरचना पर सवाल करना छोड़ रहे हैं। लेकिन, इसके समानांतर मैं यह भी ज़रूर मानती हूँ कि नारीवादी आंदोलन का मुहावरा, भाषा और प्रतीक ख़ालिस हिंदुस्तानी रहे हैं। हमने दहेज की समस्या, घरेलू और यौनिक हिंसा जैसे मसलों को अपने परिप्रेक्ष्य में उठाया है।

उर्वशी : फ़राह आपने नारीवादी सोच और नारीवादी आंदोलन को एक-दूसरे से अलग करके एक ज़रूरी चीज़ की ओर ध्यान दिलाया है। मुझे लगता है कि नारीवादी आंदोलन की शुरुआत और उसके विकास-विस्तार की बात तो हम कहीं न कहीं ढूँढ़ ही सकते हैं परंतु जहाँ तक नारीवादी सोच की बात है तो उसका इतिहास हमारे संविधान में बहुत पुराना है। अभी रजनी तिलक ने *थेरीगाथा* की विद्रोही भिक्षुणियों के बारे में बताया था। यह इतिहास हमारे लिए लाज़िमी है। लेकिन मेरा प्रश्न यह है कि आप स्त्रियों की हक़दारी का सवाल संविधान से जोड़कर कैसे देख रही हैं?

फ़राह : अधिकार-सम्पन्न स्त्री या अधिकार-सम्पन्न पुरुष की श्रेणी को संविधान से जोड़ने के पीछे मेरा तात्पर्य केवल इतना था कि हमारा संविधान हमें एक ऐसे स्वायत्त नागरिक का संस्थागत ढाँचा प्रदान करता है जिसके आगे-पीछे या दाएँ-बाएँ कुछ और कहने की ज़रूरत नहीं रह जाती। यह संरचना पहली बार हमें संविधान में दिखाई देती है। इस तरह संविधान हमारे लिए जुड़ाव का एक वैधानिक सूत्र बन जाता है। नारीवादी सोच तो सदियों पुरानी होगी। यहाँ मेरे कहने का मतलब यही

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 101

है कि राजनीतिक दर्शन के स्तर पर अपना तर्क व्यक्त करने की आश्वस्ति हमें संविधान से ही मिलती है। डॉ. आम्बेडकर ने यह बात स्पष्ट रूप से कही थी कि हम एक सामंती और जातिवादी समाज के ऊपर लिबरल संविधान थोप रहे हैं और यह एक ऐसी चीज़ है जिसके स्रोत हमें भारतीय समाज में नहीं मिलते। मेरे लिए नारीवाद एक राजनीतिक सवाल है जिसके तहत मैं स्त्री की स्वायत्तता और उसकी हक़दारी को सबसे ऊपर रखती हूँ।

अनीता : स्वायत्तता के बारे में मेरा ख़याल यह है कि शारीरिक रूप से विकलांग लोगों के संदर्भ में स्वायत्तता की बात करना मुश्किल है क्योंकि जब यह सामान्य महिलाओं को भी मयस्सर नहीं है तो विकलांग स्त्रियों की तो बात ही क्या है। जैसा कि फ़राह ने कहा, स्त्रियों की स्वायत्तता के बारे में हमने बहुत देर से सोचा। वह हमारी सोच में तो रही है लेकिन अवसरों के मामले में हम उस पर उतना ज़ोर नहीं दे पाए।

फ़राह : मेरे लिए स्वायत्तता और अधिकारों से लैस व्यक्ति की धारणाएँ सबसे अज़ीज़ हैं लेकिन गुजरात की हिंसा के बाद मेरे ज़ेहन में भी यह सवाल उठा था कि जब पूरे समुदाय को निशाना बनाया जाता है तो हम समुदाय के मुक़ाबले व्यक्ति को प्राथमिकता कैसे दे सकते हैं। नारीवाद के लिए उस वक़्त यह बहुत बड़ी चुनौती थी।

अर्चना : यहाँ संविधान की बात उठाना और उसे याद करना शायद इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि पश्चिम में नारीवादियों को जिन अधिकारों के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ा वे अधिकार हमें अपने संविधान में सहज रूप से हासिल हो गये। अब हमारी दिक़्क़त यह है कि ऐसे तमाम अधिकार हमारे व्यावहारिक जीवन में लागू नहीं हो पाते। तो हमने इन अधिकारों को इस तरह हासिल किया है कि उनकी क़ीमत का अंदाज़ा ही नहीं है। यानी हम जिस स्वायत्तता की बात कर रहे हैं वह हमें दे दी गयी है लेकिन हमें मिली नहीं है।

रजनी : फ़राह की बात से मेरे ज़ेहन में एक सवाल उठ रहा है। मुझे लगता है कि अगर हम नारीवादी सोच तथा नारीवादी आंदोलन को संविधान से जोड़ कर देख रहे हैं तो हम वर्तमान नारीवाद की बात कर रहे हैं जो सातवें दशक से शुरू होता है। हम जानते हैं कि फ़ेमिनिज़म भारतीय मूल का शब्द नहीं है। भारत में जब आज़ादी का संघर्ष चल रहा था तो समाज के विभिन्न तबक़े अपनी-अपनी स्वायत्तता और स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे। महिलाओं का एक वर्ग गाँधी के नेतृत्व में संघर्षरत था तो उनका एक अन्य वर्ग डॉ. आम्बेडकर के नेतृत्व में सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ रहा था। यह बात सही है कि डॉ. आम्बेडकर ने विभिन्न देशों के संविधान का विनियोग करके जब भारत का संविधान तैयार किया तो उसमें सभी वर्गों को एकमुश्त अधिकार दे दिये गये। उन्होंने परिवार और समाज की कई असमानताओं को तोड़ने का प्रयास भी किया। रियासतों के अपने अपने क़ानून थे। हम देखते हैं कि कुरआन के अंदर महिलाओं को हिंदू धर्म के मुक़ाबले कुछ ज़्यादा अधिकार दिये गये हैं। लेकिन वहाँ भी व्यावहारिक धरातल पर चीज़ें कुछ वैसी ही हैं जैसी मनु निर्धारित करता है। इस्लाम धर्म हमसे एक क़दम आगे है लेकिन इसके बावजूद यह कहा जाता है कि इस्लाम एक दक़ियानूसी धर्म और उसमें महिलाओं का बहुत शोषण किया जाता है। बहरहाल, नारीवाद और संविधान के इस नुक़्ते पर मैं यह कहना चाहूँगी कि संविधान में बराबरी के अधिकार तो दे दिये गये परंतु ऐसे अधिकार सामाजिक व्यवहार का अंग नहीं बन सके क्योंकि देश का शासन-प्रशासन पर एक ख़ास वर्ग और जाति का वर्चस्व बना रहा।

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 102

निवेदिता : भारतीय नारीवाद के विषय में प्रतिभागियों की राय विवाद के रूप में सामने आयी है लेकिन मुझे लगता है कि हमारे बीच सहमति के बिंदु भी हैं। मसलन, जब हम कहते हैं कि पितृसत्ता या ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष करना भी नारीवाद के दायरे में आता है तो हमारा यह नारीवाद दो सौ साल पहले या उससे भी पीछे तक जाता है। इसमें सावित्रीबाई, पंडिता रमाबाई, *थेरीगाथा* की भिक्षुणियाँ या हिंदू शास्त्रों में वर्णित गार्गी जैसी स्त्रियों को हम भारतीय नारीवाद की पूर्वजों की तरह देख सकते हैं। बतौर नारीवादी हम चाहते हैं कि भारतीय नारीवाद का एक इतिहास लिखा जाना चाहिए। इस इतिहास का लिखा जाना भी हमारी राजनीति है। हम कहना चाहते हैं कि भारतीय नारीवाद कोई आजकल में पैदा होने वाली चीज़ नहीं है।

हम बताना चाहते हैं कि भारत में नारीवाद एक बहुत पुरानी कहानी है। लेकिन इसके साथ हमें वह भी स्वीकार करना चाहिए जिसकी ओर फ़राह ने इशारा किया है। एक और नारीवाद भी है जिसे हम आधुनिक नारीवाद कह सकते हैं। यहाँ बैठ कर नारीवाद पर बात करने वाली तमाम महिलाएँ आधुनिकता से ही निकली हैं। इस देश में ऐसी कई विचारधाराएँ हैं जो पश्चिम से आयीं लेकिन यहाँ की मिट्टी में जज़्ब हो गयीं। मिसाल के तौर पर हमारे यहाँ मार्क्सवाद पश्चिम से आया और वह जहाँ जहाँ सफल हुआ वहाँ जाति को साथ लेकर ही सफल हो पाया। जिन क्षेत्रों में मार्क्सवाद जाति के साथ नहीं जुड़ पाया वहाँ उसकी कोई राजनीतिक ज़मीन नहीं बन सकी। मुझे लगता है कि आधुनिकता में स्वायत्तता और समाज की बृहत्तर संरचना में व्यक्ति की अंतस्थता का तनाव बहुत मानीख़ेज़ है। यह सिर्फ़ नारीवाद तक सीमित नहीं है। राजनीति में गहरी दिलचस्पी लेने वाले हम जैसे तमाम लोग इस तनाव से जूझते हैं। इस तनाव को बनाए रखना ज़रूरी है। जैसा कि फ़राह ने कहा, व्यक्ति के स्वातंत्र्य का विचार आधुनिकता से ही आता है। लेकिन हम देखते हैं कि दक्षिण एशियाई या अफ्रीकी समाजों में यह विचार पूरी तरह उभर कर नहीं आया। और इसे लेकर हमारे मन में कोई पछतावा भी नहीं है कि हाय हमारे यहाँ ऐसा क्यों नहीं हो पाया। हमारे समाज में व्यक्ति हमेशा समाज में अंतस्थ रहा है। मसलन, डॉ. आम्बेडकर ने जब हिंदू धर्म का परित्याग किया तो उन्होंने एक स्वायत्त व्यक्ति का रास्ता न चुनकर बौद्ध धर्म को अंगीकार किया, जबकि संविधान में प्रदत्त व्यक्ति के अधिकारों का प्रणेता उन्हीं को माना जाता है।

इस तरह मुझे लगता है कि भारतीय नारीवाद का इतिहास दर्ज करना हमारा एक एजेण्डा होना चाहिए। हम कहना चाहते हैं कि नारीवाद एक सदियों पुराना विचार है और हम इससे जुड़ी विभूतियों को निरंतर खोजते रहते हैं। दूसरी बात, आधुनिकता के साथ नारीवाद एक नया मोड़ लेता है। एक तरह से हम जैसे लोग इसी आधुनिकता की संतान हैं। उर्वशी ने इस संदर्भ में एक ज़रूरी बात कही है कि हमें भारतीयता की धारणा को भी लगातार प्रश्नांकित करते रहना चाहिए क्योंकि हम जिसे भारतीय कहते हैं वह ख़ुद ही एक मिश्रित विचार है। अगर हम परम्परा के मुहावरे में बात करें तो मातृवंशीयता भी परम्परा है और बहुपतित्व भी परम्परा है। बहुपतित्व की यह परम्परा हिमाचल में भी है और केरल में भी है।

इसके बाद मैं आपके सामने दूसरा सवाल रखना चाहूँगी। उस सवाल की पृष्ठभूमि यह है कि भारतीय नारीवाद भी कोई सार्वभौम इयत्ता नहीं है। उसमें भी तरह-तरह की स्थानिकताएँ हैं। मुझे लगता है कि हमें यह बात समझने में बहुत देर लगी कि नारीवादी आंदोलन कोई एकार्थी पद नहीं है। उसमें स्त्री भी एकल नहीं है क्योंकि उसकी कोई जाति और समुदाय भी होता है। मैंने इसीलिए इस चर्चा में अलग-अलग नज़रिये के लोगों को बुलाया कि वे भिन्न लोकेशन से बात कर सकें। लेकिन ज़ाहिर है कि अगर मैं बीस लोगों को भी आमंत्रित करती तब भी हम समस्त पहचानों को नहीं समेट पाते। मसलन, इस कमरे में कोई ईसाई या आदिवासी महिला नहीं हैं, कोई ट्रांस-जेण्डर नहीं है; कोई यौनकर्मी नहीं है। अब हम मानते हैं कि नारीवादी आंदोलन कोई एक चीज़ नहीं है। अगर हम ट्रांस-

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 103

जेण्डर की बात करें तो उन्हें नारीवादी आंदोलन से उसी सूरत में बाहर रखा जा सकता है जब इस तहरीक़ और कलाम का दायरा संबंध केवल और केवल स्त्रियों तक सीमित कर दिया जाए। संक्षेप में कहूँ तो नारीवाद में बहुलताओं की निशानदेही से एक ख़ास तरह एकजुटता पैदा होती है और साथ ही कई तरह के विवाद भी उठते हैं। कई बार तो यह भी लगता है कि इतनी भिन्नताओं के चलते हम एक साथ कैसे काम कर पाएँगे। मैं एक उदाहरण से अपनी बात साफ़ करना चाहूँगी। अब यौनकर्म को किसी भी दूसरे काम की तरह स्वीकृति मिलने लगी है। यौनकर्मी बाक़ायदा नारीवादी आंदोलन का हिस्सा भी हैं। लेकिन इस मामले में दलित नारीवादियों की ओर से जटिल प्रश्न उठता है कि यौनकर्म में अधिकांश महिलाएँ दलित पृष्ठभूमि की होती हैं। और इस पेशे में वे अपनी मर्ज़ी से दाख़िल नहीं हुई हैं। इसका मतलब ये हुआ कि अगर आप यौनकर्म को किसी भी अन्य काम की तरह देखते हैं तो आप इस तथ्य को नज़रअंदाज़ कर रहे हैं कि इस पेशे में ज़्यादातर महिलाएँ दलित हैं। यह सवाल सभा-गोष्ठियों से लेकर बड़े सम्मेलनों में भी उठाया जाता रहा है। ऐसे और भी सवाल हैं। हम चाहते हैं कि औरतों को पूरी तरह से गर्भपात का अधिकार होना चाहिए, क्योंकि उनकी देह तो उनकी ही है। अगर प्रि-नटल टेस्टिंग के ज़रिये पता चलता है कि भ्रूण किसी तरह से विकलांग है तो उन्हें गर्भपात का अधिकार होना चाहिए। पेचीदा सवाल उठ खड़े हो जाते हैं इस तरह की मानसिकता से। विकलांगों के अधिकारों के फिर क्या मायने हैं? यहाँ प्रश्न यह है कि अगर एक तरह के भ्रूण का गर्भपात सही है, जिसे मूल्यवान नहीं समझा जाता (विकलांग), तो फिर स्त्री-भ्रूण के गर्भपात का विरोध हम कैसे करेंगे? जवाब नहीं है इस तरह के सवालों का। हम इस तरह की मूल्यपरक दुविधाओं से जूझते रहेंगे। बहरहाल, यहाँ से हम इस प्रश्न की ओर अग्रसर होते हैं कि क्या नारीवाद के संबंध में पहचानों की यह बहुलता हमें एकजुटता की ओर ले जाती है या वह हमें ऐसे विवादों की ओर ठेल देती है जिनका हल ढूँढ़ना असम्भव है? ये किस तरह की चुनौती है? पहचानों के इस द्वंद्व से हम कैसे जूझ सकते हैं?

II

विभिन्न पहचानों के बीच स्त्री की एकता का प्रश्न

रजनी : मुझे लगता है कि पहचानों का केंद्रीय मुद्दा गरिमा है। पहचानों की इस अनदेखी में कई पहचानें ऐसी हैं जिनकी आवाज़ समाज ने भी दबाई है और आंदोलन ने भी। मिसाल के तौर पर, यौनकर्म के संबंध में सामान्य नारीवादियों तथा दलित-नारीवादियों में गहरे मतभेद हैं। देवदासी प्रथा दलित समुदाय में व्याप्त है। जोगनी और बेड़नी भी दलित समुदायों में ही मिलती हैं। आज मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में बेड़नी समुदाय के पचास हज़ार परिवार हैं। कहने को बेड़नी एक मातृसत्तात्मक समुदाय है जिसमें बच्चे उनकी माँओं के नाम से जाने जाते हैं, पर सच्चाई यह है कि ये महिलाएँ किसी न किसी की रखैल होती हैं। और उनके इस यौनकर्म की परिणति अंतत: यह होती है कि उनके संबंध कई पुरुषों से हो जाते हैं। बाद में ऐसी कई महिलाएँ बार-गर्ल के तौर पर भी काम करती पाई गयी हैं। डॉ. आम्बेडकर के आंदोलन के पूर्व शिवराम जानवा काम्बले और शिबू बाई ने एक बड़ी मुहिम शुरू की थी। उनकी मुहिम यह थी कि परिवार की बड़ी बेटी (कोई भी बेटी) को देवदासी न बनाया जाए। देवदासियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक वे जो मंदिर में रहती हैं और दूसरी यहाँ-वहाँ सड़कों पर घूमकर जीविकोपार्जन करती हैं। बेड़नी समुदाय की औरतें मूलत: नर्तकी होती हैं। इन परम्पराओं को ग़ौर से देखें कि इनमें स्त्री किसी और के नियंत्रण में है, उनके पास पसंद-नापसंद का अधिकार

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 104

नहीं है। वे अपने जीवन और कर्म में कहीं भी स्वायत्त नहीं है।

वर्तमान नारीवाद यौनकर्म को जीविका का स्रोत मानता है। पुलिस जब ऐसी महिलाओं को आये दिन तंग करती है तो कहा जाता है कि हमें उनकी सुरक्षा के लिए क़ानून बनाना चाहिए। लेकिन एक बार जब यह ढर्रा तय हो जाता है तो फिर यह निश्चित हो जाता है कि उनकी अगली पीढ़ियाँ भी यौनकर्म अपनाने के लिए मजबूर होंगी। यह बिलकुल उसी तरह है जैसे सीवर की सफ़ाई करने वाले लोग गटर में उतरते हैं और जान गवाँ बैठते हैं। साफ़ ज़ाहिर है कि जीवन की यह गरिमाहीनता जाति के साथ जुड़ी है। इस दृष्टि से दलित-नारीवाद और मुख्यधारा के नारीवाद में एक साफ़ फ़र्क़ है। लेकिन जहाँ तक अन्य पहचानों जैसे मुस्लिम और विकलांग स्त्री, यौनकर्मी और ट्रांस-जेण्डर का प्रश्न है तो उनके मामले में वर्गीय-स्थिति बहुत मायने रखती है। हर तबक़े के ऊपर एक वर्ग का वर्चस्व रहता है। मेरा कहना है कि अगर यह आवाज़ ख़ुद यौनकर्मियों के बीच से उठती है कि हमारी आने वाली पीढ़ियाँ यह काम नहीं करेंगी तो यह बात समझ आती है। लेकिन होता यह है कि कुछ लोग ऐसी महिलाओं के लिए ग़ैर-सरकारी संगठन चलाते हैं और उन्हें अपनी सोच के मुताबिक़ हाँकने की कोशिश करते हैं।

मैं क्षमा चाहती हूँ कि मैं यह सब इतने खुले ढंग से बोल रही हूँ। लेकिन हमने यह महसूस किया है। मैंने ख़ुद *नीलोफ़र की डायरी* पढ़ी। डायरी से पता चलता है कि वह कितने विकट शोषण का शिकार थी। नीलोफ़र अपने बेटी को गुण्डों से बचाती है ताकि उसे भी यौनकर्म में न उतरना पड़े। डायरी से कहीं नहीं लगता कि नीलोफ़र यह काम अपनी मर्ज़ी से कर रही है। लेकिन बाद में ख़ुद नीलोफ़र इस तरह का बयान देती है कि वह यह सब अपनी मर्ज़ी से कर रही है। सवाल यह है कि हम कैसे मान लें कि नीलोफ़र वाक़ई अपनी बात कह रही है। मेरा संदेह ग़लत नहीं है कि दरअसल वह किसी का कहा हुआ कह रही है। अगर वह यौनकर्म अपनी मर्ज़ी से कर रही थी तो अपनी बेटी को भी उसी दिशा में लेकर जा सकती थी।

यौनकर्म को लेकर ट्रांस-जेण्डरों की दलित-नारीवादियों के साथ बहस भी हुई है। हमें इस तथ्य का ध्यान रखना होगा कि दलित महिलाओं के पास शिक्षा और अन्य साधनों का अभाव था। आज स्थिति काफ़ी बदल गयी है लेकिन पिछली पीढ़ी की महिलाएँ तो अपनी बात भी ठीक ढंग से नहीं कह पाती थी। नारीवाद का पूरा माहौल और तौर-तरीक़े इतने उच्चवर्गीय थे कि वहाँ जाकर दलित महिलाएँ सहम-सी जाती थीं। नारीवाद के उस माहौल में वे स्वयं को उपेक्षित महसूस करती थीं। जहाँ तक विभिन्न पहचानों के बीच एकजुटता क़ायम करने की बात है तो हमें यह स्पष्ट रूप से मान लेना चाहिए कि जो उपेक्षित है उसे नेतृत्व चाहिए। मैं नागपुर के आंदोलन का उदाहरण देना चाहूँगी। उस आंदोलन में हमारे साथी व्हाट्सएप और ईमेल आदि का काम देख रहे थे। फ़ण्ड का इंतज़ाम कर रहे थे। यह निश्चित ही महत्त्वपूर्ण काम है लेकिन लामबंदी का सारा काम दो-तीन दलित महिलाएँ के हिस्से में था। वे जब कुछ कहती थीं तो उनकी बात नहीं सुनी जाती थी। इस तरह की प्रवृत्तियाँ आपसी विश्वास को तोड़ती हैं और एकजुटता की सम्भावनाओं को कुंद करती हैं। बुद्ध ने एक बहुत विलक्षण बात कही है। बुद्ध कहते हैं कि जब अण्डा अंदर से फूटता है तो वह सर्जन का क्षण होता है और जब वह बाहर से टूटता है तो वह ध्वंस होता है। तो मुझे लगता है कि नारीवादी आंदोलन में जो चीज़ नीचे से ऊपर आनी चाहिए उस पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। मुझे लगता है कि इसके पीछे यह डर रहता है कि अगर ऐसा हो गया तो उनका नेतृत्व ही ख़त्म हो जाएगा। मेरे ख़याल से जब तक हम ऐसे सवालों पर आपस में बैठकर गहराई से मंथन नहीं करते तब एकजुटता क़ायम करना मुश्किल रहेगा।

निवेदिता : रजनी के हस्तक्षेप से इस चर्चा में चयन (च्वाइस) का प्रश्न भी सामने आया है।

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 105

मुझे सम्मेलन में अल्पसंख्यकों वाले पैनल में रखा गया था। मेरे लिए यह पहला तजरुबा था। ये कोई दो-चार साल पहले की बात है। मैंने सम्मेलन की आयोजक को, जो मेरी दोस्त थी, फ़ोन मिलाया कि भई ये क्या हिमाक़त है। आज तक तो हम उसी पैनल पर बैठे हैं। इस बीच ऐसा क्या बदल गया कि हम नारीवादी नहीं, अल्पसंख्यक दिखने लगे।

अर्चना : रजनी की बात सुनकर मुझे लगा कि जैसे हमारे चारों ओर एक अनंत अंधा कुआँ है जिसमें हमें यह तक पता नहीं चलता कि कहाँ देखें और कहाँ झाँकें।

मुझे लगता है कि सबसे पहले तो लोगों को अपना-अपना स्पेस मिलना चाहिए। पहले यह तय किया जाना चाहिए कि जो लोग अपनी बात कह नहीं पाते उनका नेतृत्व कहाँ से आएगा। इस मामले में आंदोलन को यह सोचना होगा कि वह ऐसे विचारों को उन जगहों पर कैसे ले जाएगा जहाँ लोग रोज़मर्रा में ज़िंदा रहते हैं। ईमानदारी से कहूँ तो रजनी की बात जिस तकलीफ़ की ओर इशारा करती है उसे मैं कहानियों के ज़रिये तो जान पाई हूँ लेकिन इस तरह शायद पहली बार सुन रही हूँ।

अनीता : मुझे लगता है कि एकजुटता के लिए हमें आंदोलन में संवेदनशीलता की एक और गहरी जगह बनानी होगी। मसलन, विकलांगता के संदर्भ में कहूँ तो यह एक ऐसी चीज़ है जो जाति, वर्ग और समुदाय के परे जाती है। इसका शिकार कोई भी हो सकता है। मैं एक समय महिला के मुद्दों पर गम्भीर काम करने वाले लोगों की पृष्ठभूमि पर काम कर रही थी। इस सिलसिले में मैं विकलांगता के मुद्दे पर एक बार कमला भसीन से मिली। बातचीत के दौरान उन्होंने स्वीकार किया कि उन्हें इतने बरस काम करने के बावजूद यह बात कभी नहीं सूझी कि नारीवाद को विकलांगता का मुद्दा भी शामिल करना चाहिए। इस उदाहरण के ज़रिये मैं सिर्फ़ यह कहना चाहती हूँ कि एकजुटता के लिए यह संवेदनशीलता ज़रूरी है कि हम जिन मसलों को निजी या व्यक्तिगत समझते हैं उन्हें भी नारीवाद के एजेण्डे में शामिल किया जा सकता है। इस संबंध में हमें यह समझ भी विकसित करनी होगी कि एकजुटता की यह कोशिश कभी परवान भी चढ़ सकती है और कभी हमें मायूस भी होना पड़ सकता है।

मसलन, कल्पना कन्नाबिरन के साथ एक बार मेरा विवाद हुआ। मैं चाहती थी कि वे अपने दस्तावेज़ में विकलांगता के मुद्दे को भी शामिल करें। इस पर उन्होंने कहा कि अभी इसके लिए समय नहीं है। मेरे लिए यह गहरी निराशा की बात थी। लेकिन बाद में मुझे आइ.डब्ल्यू.एस. के एक कार्यक्रम में बहुत सारे लोगों के साथ जुड़ने का मौक़ा मिला। उसके बाद मुझमें यह बदलाव आया कि अब मैं सिर्फ़ विकलांगता के बारे में नहीं सोचती। जब बाबरी मस्जिद ढहाई गयी तो मैं वहाँ ट्रेन से गयी क्योंकि यह मेरी संवेदनशीलता का मामला था। इस तरह मुझे लगता है कि एकजुटता के लिए हमें अपनी सोच को थोड़ा खुला बनाना होगा और एक दूसरे को जगह देनी होगी।

फ़राह : मुझे लगता है कि पहचानों की बहुलता के संबंध में नारीवादी आंदोलन का रवैया ख़ासा संकीर्ण रहा है। अपनी बात कहूँ तो नारीवाद के प्रति मैं नब्बे के दशक में ही सजग हुई और तब ये आंदोलन निश्चित ही उच्चवर्गीय, अंग्रेज़ीदाँ और ऊँची जातियों की महिलाओं का आंदोलन था। यह स्थिति कमोबेश आज भी है। इस कमरे में मुझे, अनीता और रजनी को छोड़ कर बाक़ी सबकी पहचान तो मुख्यधारा की पहचान है। मैं एक सम्मेलन का उदाहरण देना चाहूँगी कि पहचान का यह मसला कैसे

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 106

निकल कर आता है। सम्मेलन में एक मुख्य पैनल था जो नारीवाद, क़ानून और अन्य ख़ास मुद्दों पर चर्चा कर रहा था। बाक़ी दीगर पैनल आदिवासी और अल्पसंख्यकों आदि के अधिकारों पर चर्चा कर रहे थे। मुख्य पैनल में सारी महिलाएँ उँची जातियों की थीं। मुझे सम्मेलन में अल्पसंख्यकों वाले पैनल में रखा गया था। मेरे लिए यह पहला तजरुबा था। ये कोई दो-चार साल पहले की बात है। मैंने सम्मेलन की आयोजक को, जो मेरी दोस्त थी, फ़ोन मिलाया कि भई ये क्या हिमाक़त है। आज तक तो हम उसी पैनल पर बैठे हैं। इस बीच ऐसा क्या बदल गया कि हम नारीवादी नहीं, बल्कि अल्पसंख्यक दिखने लगे।

ख़ैर, इसका कुल मतलब इतना ही है कि फ्रेमवर्क तय करने की यह प्रवृत्ति ऊँची जाति की नारीवादियों के साथ आज तक चिपकी है। इस प्रवृत्ति पर चोट करना और उस पर गहराई से विचार करना निहायत ज़रूरी है। मुझे लगता है कि इस प्रवृत्ति पर दो सिरों से हमले हो भी रहे हैं। हमारे नारीवादी सोच और आंदोलन की एक बड़ी ख़ासियत ये है कि उसका एक निजी शोध और प्रकाशन विभाग भी है। स्त्री-अध्ययन की ऐसी प्रकाशित सामग्री आंदोलन की बनिस्बत वैकल्पिक आवाज़ों को ख़ासी खुली जगह प्रदान करती है। सड़कों पर नारीवादी आंदोलन कई धाराओं और फ़िरक़ों में बँट जाता है। मेरी निगाह में स्त्री-अध्ययन तथा नारीवादी विद्वानों की मौजूदगी हमारे आंदोलन की ख़ास ताक़त रही है।

देखिए, नारीवाद अगर एक ताक़तवर आंदोलन है तो उसकी वजह यह है कि वह अपनी निजता के साथ भी भीषण मुठभेड़ करता है। यह उस स्त्री के स्व: से जुड़ा है। आप जब कई पहचानों की बात करती हैं तो आपको यह तय करना होगा कि इतिहास के किसी ख़ास मुक़ाम पर आप किस पहचान को ज़्यादा तवज्जो देते हैं। आप किस वक़्त ख़ुद को ज़्यादा नारीवादी, दलित या मुसलमान या विकलांग महसूस करते हैं ? ये पहचानें बदलती रहती हैं। आज मुस्लिम महिला-आंदोलन जिस तरह के मुद्दे उठा रहा है मैं उससे बहुत सहमत नहीं हूँ। लिहाज़ा आज की तारीख़ मैं ख़ुद को उस आंदोलन से नहीं जोड़ रही। मैं नारीवाद के जिस मुक़ाम पर खड़ी हूँ, जिसकी उपज हूँ, वही रहना चाहती हूँ। इसलिए मैं कहूँगी कि नारीवाद से संबंधित अध्ययन-सामग्री के कारण इसमें ऊँची जाति और वर्ग की महिलाओं का वर्चस्व टूटा है लेकिन यह आँच अभी आंदोलन तक नहीं पहुँची है।

रजनी ने 'चलो नागपुर' के प्रकरण में जिन चीज़ों की ओर इशारा किया है उसके बारे में मैं यह कहना चाहूँगी कि हममें जो ख़ुद को नारीवादी मानती हैं वे न तो दूसरों से ज़्यादा महान हैं और न ही ज़्यादा नैतिक हैं। हमारे बीच भी सत्ता का संघर्ष उसी तरह चलता है। नियंत्रण और नेतृत्व की समस्याएँ सिर्फ़ इसलिए ख़त्म नहीं हो जाती कि औरत होने के कारण हम स्वाभाविक तौर पर अच्छी हो जाती हैं। औरतों के बीच भी और आंदोलन के बीच भी यही लड़ाइयाँ होती हैं कि बागडोर किसके हाथ में हो। और महिला-आंदोलन में ये लड़ाइयाँ तब तक चलती रहेंगी जब तक यह पता नहीं चलता कि बड़ा फ्रेम कौन तय कर रहा है। इसे दलित-महिलाएँ तय कर रही हैं कि उच्चवर्ग की ऐसी महिलाएँ जो ख़ुद को मुख्यधारा की भी नहीं बल्कि हिंदू कहती हैं। मुझे लगता है कि कुछ बुनियादी मुद्दों पर एकजुटता आज भी है। मौजूदा समय में मुझे इस एकजुटता का आधार हिंदुत्व के मुक़ाबले में दिखाई देता है। मेरा मानना है कि इस संघर्ष में नारीवादी आंदोलन के विभिन्न रूप एक मंच पर आ सकते हैं क्योंकि हिंदुत्व महिलाओं को एक तरह से प्रभावित कर रहा है।

निवेदिता : अभी उर्वशी की बारी है, लेकिन मैं एक बात जोड़ना चाहती हूँ। अपनी-अपनी अस्मिता को पहचानना, कि आप क्या हैं, ये सीख हमने ली है। मैंने कभी नहीं सोचा कि मैं बिना अस्मिता या पहचान की हूँ। मैं अपने का सवर्ण हिंदू के रूप में पहचानने लगी हूँ। कोई और चारा नहीं है आजकल। मैं एक सवर्ण हिंदू हूँ और मैं एक 'ब्लैंक स्पेस' नहीं हूँ। अर्चनाजी की पहचान यह है कि वे इस परिचर्चा में एकमात्र ऐसी शख़्सियत हैं जो हिंदी साहित्य से वाक़िफ़ हैं और हिंदी में लगातार

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 107

हमारा यह नारीवाद दो सौ साल पहले या उससे भी पीछे तक जाता है। इसमें सावित्रीबाई, पंडिता रमाबाई, *थेरीगाथा* की भिक्षुणियाँ या हिंदू शास्त्रों में वर्णित गार्गी जैसी स्त्रियों को हम भारतीय नारीवाद की पूर्वजों की तरह देख सकते हैं। बतौर नारीवादी हम चाहते हैं कि भारतीय नारीवाद का एक इतिहास लिखा जाना चाहिए। इस इतिहास का लिखा जाना भी हमारी राजनीति है।

लिखती रही हैं। हम सब अंग्रेज़ी जगत से हैं। रजनी तो वैसे अंग्रेज़ी के जगत से नहीं हैं, लेकिन अर्चनाजी ख़ास हिंदी साहित्य के जगत से हैं। उर्वशी की पहचान मेरे लिए प्रकाशक होने के नाते ही थी। मैंने सोचा कि ये नारीवादी प्रकाशक हैं और तरह-तरह के सवालों से जूझती रहती हैं। तो, मैंने कभी नहीं सोचा कि तीन बिना पहचान वाले लोग हैं और तीन पहचान वाले। मैंने ऐसा कभी नहीं सोचा और यह बात रेकॉर्ड में रखने की ज़रूरत है।

हमें यह सोचना भी नहीं चाहिए कि हम बिना पहचान के हैं। हम इसे अनुभवों से सीखते हैं। मसलन, आज हम यहाँ आये मीटिंग के लिए और आते ही सचिन ने बताया कि फ़र्स्ट फ़्लोर पर बैठक है, तो मैं वहाँ जा कर बैठ गयी। हालाँकि पिछले पंद्रह साल से अनीता से मेरी दोस्ती के चलते मेरी समझ का विस्तार हुआ है। लेकिन आज जब तक अनीता आयी और मुझे यह मैसेज मिला कि अनीता को नीचे इस कमरे में बैठना है, तब तक मुझे ध्यान ही नहीं आया कि अनीता सीढ़ियों से फ़र्स्ट फ्लोर तक नहीं आ सकती। लेकिन अनीता के ऐसे कहने से पहले ही मेरे मन में यह सवाल आना चाहिए था। इसलिए यहाँ अनीता के अलावा हम सब 'एबिल बॉडीड' या फिर कहें 'टेंप्रेरीली एबिल बॉडीड' हैं। यह भी मैंने अनीता से ही सीखा है कि हम सब अस्थायी रूप से ही 'एबल बॉडीड' हैं। हो सकता है कि मैं यहाँ से बाहर जाऊँ, तो मेरा हाथ या पैर टूट सकता है या मुझे 'कोल्ड' हो सकता है। इसलिए मैं यह थोड़ा साफ़ कर देना चाहती थी कि पहचान हम सबकी है।

और, आख़िर अपनी हिंदू आइडेंटिटी मैं कैसे न पहचानूँ? मुझे याद है कि अस्सी के दशक के आख़िरी वर्षों में मैंने जब पढ़ाना शुरू किया तो मैं कहती थी कि मैं हिंदू नहीं हूँ। मेरा नाम हिंदू है लेकिन मैं हिंदू नहीं हूँ। मैं यह बहुत बोलती थी। नब्बे के दशक की शुरुआत में मेरी एक मुस्लिम छात्रा ने मुझसे यह कहा कि आप यह कह सकती हैं कि आप हिंदू नहीं हैं, लेकिन कभी आपको यह तजरुबा हुआ है कि आपको अपने घर से अपनी 'नेम प्लेट' हटानी पड़े— मेरी फ़ैमिली को यह तजरुबा हुआ है। कभी ट्रेन में आपको अपने परिवार के किसी सदस्य को नाम बदल कर भेजना पड़ा है? नहीं न, तो फिर आप यह मत कहिए कि मैं हिंदू नहीं हूँ। इसलिए हम सबने बहुत ही 'पेनफ़ुली' पहचान के बारे में सीखा है।

असल में, नारीवाद धीरे-धीरे विकसित हुआ है। आपस में बहस करते हुए, लड़ते-झगड़ते हुए हमने एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखा है। और नारीवादी आंदोलन का कोई मजबूत पक्ष है, तो मैं कहूँगी कि वह यही पक्ष है। मुझे यह लगता रहा है कि हिंदुत्व के ख़िलाफ़ लड़ाई में हम सब एक होंगे। लेकिन नागपुर में हमने देखा था कि हिंदुत्व को लेकर भी काफ़ी मतभेद हैं। दलित-बहुजन औरतें यह कह रही थीं कि हिंदुत्व के बजाय ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ बोलना चाहिए, जबकि मुस्लिम औरतें कह रही थीं कि यह ब्राह्मणवाद क्या है, हम तो हिंदुत्व को पहचानते हैं। साफ़ है कि हिंदुत्व को भी साफ़ तौर पर एक मुद्दे के रूप में रेखांकित नहीं किया जा सकता, लेकिन फिर भी मुझे लगता है कि हमारी लड़ाई उसी के ख़िलाफ़ है।

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 108

उर्वशी : बहुत कुछ कहा गया है। मैं दो दिशाओं से आपके इस मूल प्रश्न पर आऊँगी। एक तो यहाँ दिल्ली में एक्टिविस्ट महिला के रूप में मेरी पहचान; और दूसरे एक नारीवादी प्रकाशक के रूप में मेरी पहचान, जिसके चलते आपने मुझे यहाँ बुलाया। मैं कॉलेज में 1970–71 के आस-पास से महिला आंदोलन में जुड़ी। उस समय हम लोगों ने मिल कर एक साथ कुछ काम करने की शुरुआत की थी, जिसमें *मानुषी* का प्रकाशन भी शामिल था। हालाँकि मधु किश्वर आज यह बात नहीं मानेंगी, लेकिन वे तो झूठी हैं। हम 18 महिलाएँ थीं जिन्होंने *मानुषी* को शुरू किया था। आईसीएसएसआर (भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद) में उसके लिए बैठक भी हुई थी। सच्चाई यही है कि हम सब लोगों ने मिल कर इस पत्रिका की शुरुआत की थी, हालाँकि उस वक़्त हमारी सोच बहुत ही सीमित थी। हम यह सोचते थे कि हम इसलिए एकत्रित हुए हैं कि हम महिलाएँ हैं और हमारा मुख्य मक़सद अन्य ग़रीब महिलाओं की समस्याओं को दूर करना है। हमने कभी यह नहीं सोचा था कि हम उन समस्याओं में, उनकी राजनीति आदि भी शामिल हैं। हमने कभी यह भी नहीं सोचा कि हम ऊँची जाति की महिलाएँ हैं या हममें से अधिकांश हिंदू महिलाएँ हैं। और फ़राह आपने यह कहा कि इस कमरे में तीन महिलाएँ हैं जिनकी कोई ख़ास पहचान है— तो मैं यह कहूँगी यह सोचना सही नहीं है।

दरअसल, पहचान का प्रश्न बहुत ही गहरा प्रश्न है और मेरे सामने यह सवाल सबसे पहले 1984 में सामने आया था। मेरा परिवार एक सिख परिवार है। हमारे नाम से पता चलता है कि हम सरदार हैं। लेकिन मेरे पिताजी के बाल कटे थे। वे बहुत ही छोटी उमर में गंजे हो गये थे। मेरे दोनों भाइयों के बाल कटे थे। उस समय मेरे बाल लम्बे थे। हम कहीं जाते थे तो गुरुद्वारे में जाते थे। सारी उम्र हमने कभी मंदिर में क़दम नहीं रखा। उसमें भी मेरे पिताजी गुरुद्वारे में तब जाते थे जब ताश खेलते थे तो गुरुद्वारे में जा कर गुरु नानक से कहते थे कि बाबा मेरे को जिता दे। धर्म की हमारे घर में इतनी ही अहमियत थी। हमारे यहाँ गुरुनानक की एक तस्वीर थी, जो स्टोर रूम में रखी होती थी। जब हमारी दादी आती थीं तो उसे हम टाँग देते थे। 1984 में एकदम से हमें यह अहसास हुआ कि हम सरदार हैं। घर के सामने से नेमप्लेट उतारनी पड़ी। जब मैंने आप लोगों के साथ नागरिक एकता मंच में काम किया था, तो वहाँ मेरे नाम उर्वशी से कोई यह नहीं कह सकता था कि मैं सरदार हूँ, लेकिन बुटालिया से पता चल जाता था। लेकिन चौरासी में मुझे पहचान की कमज़ोरी और असुरक्षा का पता चला। उसके बाद महिला आंदोलन में भी यह सवाल उठते रहे।

निवेदिता, फ़राह, अनीता आपको याद होगा, और रजनी शायद आपको भी यह पता होगा कि फ़्लेविया ने यह प्रश्न उठाया था कि महिला आंदोलन में बहुसंख्यकवादी सोच क्यों है। तब तक हममें से किसी ने भी इस पर विचार नहीं किया। लेकिन उस वक़्त मुझे अपने ऊपर नज़र डालनी पड़ी कि हमारा जो प्रकाशन था, उसको हमने बिना सोचे *काली* नाम दे दिया। आख़िर ऐसा क्यों हुआ? ऐसा इसीलिए हुआ क्योंकि हमारे ज़ेहन में सिर्फ़ हिंदू विचार थे। वे इतने गहरे तक बैठे हुए थे कि कोई और नाम ज़ेहन में आया ही नहीं। जब फ़्लेविया ने यह प्रश्न उठाया तो इस ओर ध्यान गया।

निवेदिता : उर्वशी फ़्लेविया ने यह भी कहा था कि कैसे वुमंस स्टडीज़ की बैठकें क्रिसमस के समय रखी जाती हैं। छुट्टी समझ के क्रिसमस के समय तो बैठकें हो जाती हैं, किंतु दिवाली के समय ऐसा नहीं होता।

उर्वशी : हाँ, फ़्लेविया ने 'सिम्बल और एम्पॉवरमेंट' आदि पर भी कई प्रश्न उठाए। उसी दौर में उन्होंने भिन्न यौनिकता वाली महिलाओं का प्रश्न उठाया था। फिर दलित महिलाओं ने प्रश्न उठाना शुरू किया। इसके बाद हिंदुत्व आकर हमारे सामने खड़ा हो गया। हमारे देश में जब जन्म होता है तो वह एक धर्म में होता है। आप नास्तिक तो पैदा हो नहीं सकते, या तो आप हिंदू हैं या मुस्लिम या फिर किसी

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 109

एक बार राजस्थान की 75 महिलाएँ हमारे पास एक किताब लेकर आयीं, जिसका नाम था 'शरीर की जानकारी'। ... उन्होंने मुझसे यह कहा कि हम पचहत्तर औरतें हैं, हमारे पास 'इंडिविडुअल ऑथरशिप' की अवधारणा ही नहीं है। हमने तो मिल कर यह किताब लिखी है। आप यह गारंटी दीजिए कि आप यह पचहत्तर नाम 'कॅवर' पर डालेंगी।

अन्य धर्म को मानने वाले। हममें से जो महिलाएँ हिंदू विशेषाधिकार वाले परिवार में जन्मीं, उन्हें धीरे-धीरे यह अहसास होने लगा कि हिंदू धर्म के कारण उन्हें कुछ विशेषाधिकार मिला हुआ है और हमें ख़ुद को इससे अलग करना है। तो एक तरह से नारी आंदोलन में पहचान का प्रश्न बढ़ता ही गया और इसमें कई तरह के मुद्दे उठे और उन पर चर्चा होती रही। यह आज तक जारी है, जैसा कि आप सबने कहा है।

एक तो इस तरफ़ से मैं इस प्रश्न पर आना चाहती थी और दूसरे अपने काम की तरफ़ से। हमने अपने प्रकाशन का नाम *काली* रखकर शुरुआत की थी। जब 2003 में *काली* के दो हिस्से हुए और हमने *ज़ुबान* की शुरुआत की, तब तक मैं यह समझ चुकी थी कि अपने प्रकाशन को धार्मिक नाम तो देना ही नहीं है। ढूँढ़-ढाँढ़ के अपुन ने कहीं से यह नाम 'ज़ुबान' खोजा, जो कि धार्मिक नाम नहीं था। पिछले 33 सालों के अपने प्रकाशन के अनुभव से हमें यह बात समझ में आयी कि साहित्य की दुनिया में, ज्ञान की दुनिया में मर्दों ने एक तरह से सत्ता को अपने हाथों में रखा है, और हमें इसे बदलने के लिए औरतों को आवाज़ें उठानी हैं। हालाँकि जैसे हम अभी बात कर रहे थे कि इण्डियन शब्द का थोड़ा ख़ुलासा करने की आवश्यकता है, उसी तरह महिला लेखन के बारे में भी थोड़ा खुलासा करने की ज़रूरत है।

हम अंग्रेज़ी में छापते हैं, दिल्ली में बैठे हुए हैं। अब अरसे से अंग्रेज़ी में पढ़ी-लिखी उच्च वर्ग और उच्च जाति की महिलाओं के लेखन को प्रकाशित कर रहे थे और ऐसा करके अपने आप को ऑपोज़िशनल भी समझ रहे थे। अगर यह सब इसी तरह बिलकुल सीमित रहता तो यह ग़लत बात होती। हमें महिला कैटेगरी को अनपैक करना था कि इसमें हमको क्या-क्या देखना है, कहाँ तक देखना है। जैसे-जैसे वो अनपैकिंग होती रही, वैसे-वैसे नये-नये प्रश्न आते रहे। जैसे कि अगर आपको उन महिलाओं की किताबें प्रकाशित करनी हैं जो ग़रीब हैं और पढ़ी-लिखी नहीं हैं, लिख नहीं सकती हैं तो फिर किताब का मतलब क्या है? एक बार राजस्थान की 75 महिलाएँ हमारे पास एक किताब लेकर आयीं, जिसका नाम था 'शरीर की जानकारी'। उन्होंने यह किताब अपने ऑफ़िस में बातचीत करके बनाई थी कि औरत का शरीर कैसे बचपन से बुढ़ापे तक बदलता है। उन्होंने मुझसे यह कहा कि हम पचहत्तर औरतें हैं, हमारे पास 'इंडिविडुअल ऑथरशिप' की अवधारणा ही नहीं है। हमने तो मिल कर यह किताब लिखी है। आप यह गारंटी दीजिए कि आप यह पचहत्तर नाम 'कॅवर' पर डालेंगी।

सारी उम्र मैंने यह सीखा है कि लेखक एक होता है, दो होते हैं या ज़्यादा-से-ज़्यादा तीन होते हैं। आप अकादमिक लेखन में यह देखेंगे कि तीन लेखकों के बाद सबके नाम ग़ायब होते हैं। लेकिन राजस्थान की ग्रामीण महिलाओं ने अनूठी माँग रखी जो मेरे लिए नया तजरुबा था। इसी तरह, जब हमने बेबी हलदार की किताब प्रकाशित की तो वह भी एक नया प्रयोग था, क्योंकि यह रोज़मर्रा की ज़िंदगी में हिंसा झेलने वाली औरत की कहानी थी। यह किताब अपने एक विदेशी प्रकाशक को बेचने

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 110

की कोशिश की जिन्होंने यह कहा कि हमें 'मिज़री मेमॉयर' (दु:खद संस्मरण) काफ़ी फ़ायदेमंद लगते हैं, बाज़ार में ये खूब बिकते हैं, लेकिन ये जो आपकी किताब है वो 'मिज़रेबल एनफ़' (पर्याप्त दु:खद) नहीं है। इसके पीछे उन्होंने कारण बताया कि वह महिला (बेबी हलदार) बहुत ही सपाट तरीक़े से अपनी बातें कहती है, मसलन वह बोलती है कि 'मेरा पति घर, उसने खाना खाया, मुझे पीटा और मैं फिर से काम में लग गयी।' उसके लिए यह रोज़ की बात है, इसलिए यह उसी तरह से उसका वर्णन करती है। विदेशी प्रकाशक चाहते थे कि ये बातें थोड़ी नाटकीय तरीक़े से आयें, मसलन 'उसने मुझे सिर पर मारा, मेरा सिर फट गया, ख़ून बहने लगा इत्यादि।' इस प्रकार के अनुभवों से मुझे बहुत सारी चीज़ें सीखने को मिलीं।

इसमें मैं एक और चीज़ जोड़ना चाहूँगी क्योंकि पहचान की बात हो रही है। यह एक गम्भीर प्रश्न है कि आप औरत की पहचान को लेखन और प्रकाशन में कैसे सम्मान देंगे। इस संदर्भ में मैं दो उदाहरण देना चाहती हूँ जिससे और सारी बातें भी मेरी समझ में आयीं और यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। एक तो हमने एक महिला की किताब छापी। फ़राह उनको जानती हैं— राधा बहन गरबा, जो कच्छ महिला विकास संगठन में काम करती हैं। वे दलित महिला हैं और चित्र बनाती हैं। उनकी चित्रों की किताब हमने छापी। लेकिन राधा बहन का यह कहना था कि वे यह नहीं चाहती कि उनकी दलित पहचान उभर कर सामने आये। तो आप समझिए कि पब्लिशिंग में दलित महिला के पहचान सामने लाना आजकल बहुत ही 'सेक्सी' चीज़ है। रजनी सॉरी, असल में ये मार्केट में बहुत चलता है और मैं आपको मार्केट का लॉजिक दे रही हूँ। एक प्रशासक के रूप में हमें भी खूब तारीफ़ मिलेगी कि आपने दलित महिला की किताब छापी। लेकिन वे ऐसा नहीं चाहती थीं। हमें इसका सम्मान करना है कि यदि वे नहीं चाहती हैं, तो हम नहीं छापेंगे।

इसी तरह, हम यौन हिंसा पर किताबों की एक शृंखला तैयार कर रहे थे। इसमें हम यह चाहते थे कि प्रत्येक किताब में दलित महिलाओं के तजरुबे के बारे में लिखा जाए, क्योंकि उसके बग़ैर हम किताब प्रकाशित नहीं कर सकते थे। लेकिन हमने इस काम के लिए जिन दो-तीन लेखकों को ज़िम्मेदारी दी, उन्होंने हमसे यह कहा कि हम यह नहीं चाहते कि हमारे लेख, अनुभव आदि सवर्ण लोगों द्वारा चलाए जा रहे प्रकाशनों से आयें, हम उन्हें अपनी पत्रिकाओं, एकेडमिक जर्नलों में प्रकाशित करना चाहते हैं; आख़िर हम क्यों आपको वैधता दें। अब यह भी एक चुनौती है। अंत में, मैं यह कहना चाहूँगी कि एकजुटता अलग-अलग तरह की चीज़ होती है, आपको अलग-अलग तरह की एकजुटता साथ लेकर चलना पड़ता है। तो हमारी एकजुटता यह थी कि हमने कहा कि हम आपकी बात समझते हैं, क्योंकि कभी हम भी उस मुक़ाम पर खड़े हुए थे। हमने भी जब औरतों के बारे में, उनके संघर्ष के बारे में और मर्दों के ख़िलाफ़ छापना चाहते थे, और उस वक़्त यदि कोई मर्द प्रकाशक आकर यह कहता कि हम आपकी किताब छापेंगे तो हम यह कहते कि नहीं हम अपनी किताब ख़ुद छापेंगे। तो हमने भी दलित लेखक/लेखिकाओं के विचारों का सम्मान किया। हमने उनसे कहा कि ऐसा कीजिए कि पहले आप इसे अपने जर्नल में प्रकाशित कर लीजिए और उसके बाद हमें दे दीजिए जिससे यह दोनों ही जगहों पर प्रकाशित हो जाए। मेरे लिए यह एक तरह की एकजुटता है।

बिल्कुल आख़िरी बात है गुजरात के काण्ड की। श्रीलंका की एक एक्टिविस्ट सुनीला अभिशेखरा, जिनकी अब मृत्यु हो गयी है, यहाँ आयी थीं। उनके साथ और कुछ अन्य दक्षिण एशियाई महिला एक्टिविस्टों के साथ बातचीत में यह विचार आया कि एक ऐसी साउथ एशिया कमेटी बने जो गुजरात काण्ड की जाँच करे। उस समय यह बात चल रही थी कि अलग-अलग धार्मिक पहचानों के बीच एकजुटता कैसे हो सकती है— मसलन मुसलमान औरत, हिंदू औरत और अन्य पहचानों के बीच। मुझे उस वक़्त याद आया कि जब हम लोग पीयूडीआर की एक टीम में भागलपुर गये थे और मैं भी उस टीम में थी। हम अपनी बहुसंख्यक पहचान को सर्वमान्य मान कर चलते हैं। मैं एक मुसलमान गाँव में जाने को तैयार थी, जहाँ

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 111

पर बहुत ही हिंसा हुई थी। मैंने कभी यह नहीं सोचा कि मैं हिंदू हूँ और लोग मेरे ख़िलाफ़ हो जाएँगे। मैंने सोचा कि मैं सेकुलर हूँ और मुझे हिंदू होने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। लेकिन जैसे ही मैं उस गाँव की औरतों के बीच गयी, उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम हिंदू हो या मुसलमान हो। मैं कुछ कह नहीं पाई तो उन्होंने कहा कि इससे कलीमा पढ़वाई तो पता चलेगा कि हमारे जैसी है या कोई और है।

उस समय मुझे ख़तरा महसूस हुआ और यह लगा कि एक पहचान पर आप दावा करते हैं और एक पहचान आपके साथ आती है। बहरहाल, सुनीला अभिशेखरा ने एक बात कही जो तभी से मेरे ज़ेहन में रहती है। उन्होंने कहा कि श्रीलंका के गृहयुद्ध के बाद महिलाएँ एकत्रित होने लगीं और उन्होंने यह कहा कि हम पूरे देश में जहाँ तक ले जा सकते हैं, वहाँ तक एक शांति मोर्चा लेकर जाएँगे। लेकिन कुछ ही समय बाद सिंहल औरतें तमिल औरतों के ख़िलाफ़ हो गयीं और तमिल औरतें सिंहल औरतों के ख़िलाफ़; और मुस्लिम औरतें इन दोनों के ही ख़िलाफ़ हो गयीं। तो फिर यह प्रश्न आया कि सबको एक साथ लेकर कैसे चला जाए। सुनीला ने बताया कि हम लोगों ने तय किया कि हम जहाँ तक साथ चल सकते हैं, वहाँ तक साथ चलेंगे और उसके बाद हम सब अपना-अपना रास्ता अपने हिसाब से तय करेंगे। मेरे लिए एकजुटता का यही मतलब है कि जहाँ तक एक साथ चल सकते हैं, वहाँ तक साथ चलें और उसके बाद अपना-अपना रास्ता पकड़ लें।

निवेदिता : अभी अगर कोई और इस पर विचार रखना चाहता है, अनीता, फ़राह या अन्य कोई भी तो वह अपनी बात रख सकता है।

अनीता : फ़राह ने कहा कि मैंने जो कुछ बोला वह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है लेकिन हमने नारीवाद में यही सीखा है कि व्यक्तिगत ही राजनीतिक है। मैं यह कहना चाहती हूँ कि आप दो स्तरों पर जुड़े होते हैं। मैं, अपाहिज लोगों के आंदोलन के साथ भी जुड़ी हुई हूँ, लेकिन वहाँ पर बहुत सारी औरतें अक्सर यह कहती हैं कि नारीवादी आंदोलन से कुछ भी नहीं मिलेगा। लेकिन मैंने कहा कि जब तक हम नारीवाद आंदोलन के साथ नहीं जाएँगे, तब तक एकजुटता कैसे बनेगी। जब मैं आई.डब्ल्यू.एस. की अध्यक्ष बनी तो मैंने यह कहा कि हम इस बार राजनीति के साथ न लड़ें। वर्धा सम्मेलन में मैंने इस बात पर बल दिया कि हम संसाधन और क़ानून जैसी अलग-अलग श्रेणियों के आधार पर संघर्ष करें। हम कहीं भी दलित औरत या विकलांग औरत जैसी श्रेणी न लाएँ। हम संसाधनों की बात करें, जो हिंदू, मुस्लिम या सभी औरतों के लिए महत्त्वपूर्ण है। वहाँ मैं अपनी विकलांग औरत वाली श्रेणी से आगे जाना चाहती थी।

हालाँकि वर्धा सम्मेलन में पाँच सौ औरतों ने हिस्सा लिया, जिसमें मेरे सिवा एक अन्य औरत— यानी हम दो लोग ही विकलांग थे। जो इलीना के साथ हुआ, उससे मैं पूरी तरह जुड़ी हुई थी और मैंने यह महसूस किया कि आप हमेशा ही एक तरह की पहचान— विकलांगता से जुड़ कर नहीं रह सकते, बल्कि आपको उसके आगे जाने की भी ज़रूरत होती है। जब एक बार आम्बेडकर (युनिवर्सिटी) के कुछ बच्चों को पुलिस पकड़कर ले गयी, तो मैं उन्हें छुड़ाने के लिए पुलिस स्टेशन गयी। मैं व्हील चेयर पर थी। पुलिस वालों ने पूछा कि आप यहाँ कैसे? मैंने बताया कि बच्चे हैं, उन्हें छुड़ाने के लिए आयी हूँ। फिर, मुझे विकलांग समझकर उनका दया वाला स्वरूप सामने आ गया और उन्होंने कहा कि नहीं आप बैठिए, हम जल्दी कर देंगे। लेकिन मैंने कहा कि पहले आपने जो ग़लत किया है, उसे लिख कर देना है। उन्होंने कहा कि आप तो लड़ाई कर रही हैं, मैंने कहा कि मैं अपने बच्चों को छुड़ाने आयी हूँ, लेकिन मैं लड़ाई भी करने आयी हूँ।

अब जैसे कई बार मैं एयरपोर्ट पर अपना सामान लेकर जाती हूँ, तो अक्सर मेरी व्हील चेयर को देख कर कर्मचारी वग़ैरह पूछ लेते हैं कि अकेली जा रही हो? अरे भई, अब मुझे जाना है, यात्रा करनी

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 112

है तो किसे साथ लेकर जाऊँ। मेरे कहने का मतलब यह है कि मैं कितना भी आत्मनिर्भर बन जाऊँ, ख़ुद अपना व्हील चेयर चलाऊँ लेकिन विकलांगता वाली जो मेरी पहचान है, वह पीछा नहीं छोड़ती है। बहुत सारी विकलांग लड़कियों की माँ मुझे मिलती हैं और वे बताती हैं कि उन्होंने अपनी लड़की की हिस्टेरेक्टमी (गर्भाशय निकलवा देना) कराई है। जब मैं पूछती हूँ कि ऐसा क्यों तो अक्सर यही जवाब मिलता है कि अगर वह कहीं गर्भवती हो गयी, तो फिर मुझे इस लड़की और उसके बच्चे—दोनों को ही सँभालना पड़ेगा और मेरे लिए काम बढ़ जाएगा।

मैं उनसे यह पूछती हूँ कि क्या इस तरह के क़दम उठा कर या फिर कई मौक़ों पर गर्भपात का सहारा ले कर वे यौन उत्पीड़न को वैधता नहीं दे रही हैं? क्या यह एक तरीक़े से यह स्वीकार करने जैसा नहीं है कि यौन हिंसा या उत्पीड़न तो होगा ही, किंतु हिस्टेरेक्टमी जैसे क़दमों से परेशानी कम की जा सकती है? मैं ऐसी माँओं के साथ भी एक एकजुटता बनाने का प्रयास करती हूँ। हालाँकि कई बार मैं उलझन में पड़ जाती हूँ कि आख़िर किस तरह एक ऐसी व्यवस्था बने जो ऐसी माताओं के लिए मदद का रास्ता खोल सके। इसलिए मुझे यह लगता है कि पहचान तो बदलती है और उसे एक स्तर के बाद बदलना भी चाहिए। और जैसा कि उर्वशी कह रही थीं कि हम एकजुटता से जितना दूर साथ चल सकें, हमें चलना चाहिए। अक्सर तीन दिसम्बर को विकलांगता दिवस के मौक़े पर मेरी नारीवादी दोस्त कार्यक्रमों में नहीं आ पातीं, किंतु मैं आठ मार्च को जाती हूँ। इसलिए हमें अपनी चेतना में यह बात लानी है कि हम सबके लिए बोल पाएँ। मैं यह नहीं कह रही कि आज ही यह हो जाएगा लेकिन हमें इसके लिए प्रयास करना चाहिए।

निवेदिता : पहचान के मुद्दे पर क्या कोई और कुछ जोड़ना चाहेगा?

रजनी : पहचान एक वर्ग की नुमाइंदगी भी करती है। नारीवाद में हमने यही सीखा है कि व्यक्तिगत ही राजनीतिक है। लेकिन जो राजनीति है, वह एक समुदाय से जुड़ी हुई है। अगर मैं एक औरत हूँ, तो वह एक समुदाय से जुड़ी है। जैसे अनीता ने कहा कि वह आठ मार्च को सभा में जाती हैं, तो वह भी महिला समुदाय से ख़ुद को जोड़ने की बात है। और एकजुटता सिर्फ़ यह कहने से नहीं आती है कि हम सब साथ हैं, बल्कि इसके लिए एक सहायता की एक पूरी संरचना स्थापित करने की आवश्यकता है। कई बार ख़ुद को हटा कर दूसरों को सिखाना भी पड़ सकता है। ऐसा करके ही हम समग्रता की लड़ाई लड़ पाएँगे। यदि हम सिर्फ़ व्यक्तिवादी तरीक़े से सोचेंगे, तो हम सिर्फ़ व्यक्ति तक ही सीमित रह जाएँगे। नारीवाद की अंतर्वस्तु में भी व्यक्तिवाद हावी है और मुझे लगता है कि उसका विस्तार करने की आवश्यकता है और उसमें 'इंटर-सेक्शनैलिटी' को जोड़ा जाना चाहिए। मैं पहले दलित नारीवादी नहीं थी। मैं तो पहले अपनी छात्रा जीवन के समय से ही 'सहेली' से जुड़ी हुई थी। वहाँ जैसे मैं पहले अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं समझती थी, तो मुझे बोलते थे कि तू अंग्रेज़ी सीख ले। फिर बाद में, दस साल बाद, मैंने भी बोलना शुरू किया कि तुम लोगों ने हिंदी क्यों नहीं सीखी। क्या हिंदी सीखना भी कोई ख़राब बात है। असल में, मौक़ा देने से और साथ जोड़ने का प्रयास करने से ही एकजुटता बनती है।

फ़राह : पहचान से जुड़ी राजनीति के बारे में एक विडम्बना भी है, जिसे मैंने अपने काम और प्रकाशन में भी देखा है। यह रिप्रज़ेंटेशन या नुमाइंदगी की राजनीति से जुड़ा हुआ है। कौन किसके लिए कब कह सकता है। यह हमने नब्बे के दशक में देखा, जब हमने यह पाया कि कुछ मुसलमान समूह थे, मसलन आवाज़-ए-निस्वाँ, जो 84 या 85 में पैदा हुआ था, जो मुसलमान समूह के मुद्दों पर अपना दावा जताते थे। इस समय यह लगा कि मुख्यधारा का नारीवादी आंदोलन ख़ुद को इतना सक्षम नहीं

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 113

मैं पहले अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं समझती थी, तो मुझे बोलते थे कि तू अंग्रेज़ी सीख ले। फिर बाद में, दस साल बाद, मैंने भी बोलना शुरू किया कि तुम लोगों ने हिंदी क्यों नहीं सीखी। क्या हिंदी सीखना भी कोई ख़राब बात है। असल में, मौक़ा देने से और साथ जोड़ने का प्रयास करने से ही एकजुटता बनती है।

मान रहा है कि वह मुसलमान मुद्दों पर अपनी बात रखे और एक तरह से मैदान ख़ाली कर दिया गया। मुझे लगता है कि यह ग़लती हुई। यह मानना ग़लत था कि इस पर हमारी (नारीवादियों) की समझ नहीं है, लिहाज़ा इस पर अब मुस्लिम महिलाएँ ही बात करें। मुझे लगता है कि नुमाइंदगी की इस राजनीति का सामना करना हमारे लिए विचारधारात्मक और राजनीतिक रूप से बहुत ही ज़रूरी है।

कई बार यह भी देखने में आता है कि दलित महिला का मुद्दा आने पर ग़ैर-दलित नारीवादी आलोचनात्मक विचार नहीं रख पाती हैं। लेकिन मुझे लगता है कि बोलना चाहिए कि दलित महिला आंदोलन में घरेलू हिंसा के बारे में कम बातें होती हैं; दलित महिला आंदोलन में सवर्ण पुरुषों द्वारा दलित स्त्रियों के शरीर पर होने वाली हिंसा के बारे में चर्चा की जाती है किंतु दलित पुरुषों द्वारा दलिता महिलाओं पर होने वाली हिंसा की उपेक्षा कर दी जाती है। मुस्लिम महिला आंदोलन अपनी आंतरिक पितृसत्ता से जूझ रही है। दोनों आंदोलनों में फ़र्क़ है किंतु हम ख़ुद को इस अंतर को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं पाते हैं, हम झिझकते हैं। यह एक तरह से द्विज हिंदू महिलाओं के लिए राजनीतिक सुविधा या सही दिखने का तरीक़ा भी बन जाता है। ये विवादास्पद लगने वाले मसलों से यह कह कर बच सकती हैं कि इतने समय से हम ही बोल रही हैं, अब किसी अन्य समूह की महिला अपनी आवाज़ उठा रही है, अपनी बातें रख रही है तो हमें बीच में टाँग नहीं अड़ाना चाहिए। मुझे लगता है कि यह सही नजरिया नहीं है और हर तरह के मसलों पर विचार रखा जाना चाहिए। मेरे लिए यह काफ़ी महत्त्वपूर्ण मसला है।

और, उर्वशी तुमने काफ़ी अच्छा उदाहरण दिया कि दलित लेखक/लेखिका दलित प्रकाशकों से ही अपनी किताबें छपवाना चाहते हैं। मेरा मानना है कि सत्ता का उलटाव (पॉवर इनवर्जन) तब तक नहीं होगा, जब तक एक दलित प्रकाशक सवर्ण हिंदू की किताबें प्रकाशित न करे। नारीवादी आंदोलन में हम अभी उस मुक़ाम पर नहीं पहुँचे हैं जहाँ मुद्दों का ख़ाका तैयार करने की जिम्मेदारी दलित या मुस्लिम बुद्धिजीवियों के हाथों में हो और वे यह तय कर पाएँ कि आदिवासी मसलों और मुस्लिम मसलों की तरह ही हिंदू मसलों पर अलग से विचार हो। जब इस तरह सत्ता का उलटाव (इनवर्जन) होगा तो हम यह कह पाएँगे कि हम एकजुटता सीखने में कुछ हद तक सफ़ल रहे हैं। नुमाइंदगी के मामले में मैं आपको यह उदाहरण देना चाहूँगी कि जो बिकलिस बानो का केस है, उसे केवल एक मुसलमान के अधिकार का केस नहीं बनाया गया। वह एक नारीवादी मुद्दा भी बना रहा। ऐसा बहुत ही सचेत रूप से और इस तथ्य के बावजूद किया गया कि वह महिला मुस्लिम है, उस पर जो अत्याचार किया गया उसका परिप्रेक्ष्य उसका 2002 में गुजरात में मुस्लिमों के ख़िलाफ़ हिंसा था। मेरा कहना यह है कि नुमाइंदगी की राजनीति में भी हम स्वायत्तता लेते हैं। कोई ज़रूरी नहीं है कि एक दलिता महिला हमेशा दलित पहचान के साथ, मुस्लिम महिला मुस्लिम पहचान के साथ या विकलांग महिला विकलांग पहचान के साथ आगे आये। अलग-अलग वक़्त पर इनके अलग-अलग पहचान प्रभावी हो सकते हैं। किसी ख़ास वक़्त पर उनकी महिला पहचान ज़्यादा ख़ास हो सकती है। हमें इस तरह की स्वायत्तता को बढ़ावा देने की आवश्यकता है।

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 114

रण्डी मूल रूप से एक सम्मानित महिला के लिए इस्तेमाल होने वाला शब्द था। यह लाल क़िले में रहने वाली स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होता था। लाल किला उजड़ने के बाद ये चाँदनी चौक आ गयीं और उन्होंने अपनी आजीविका के लिए यह सबसे पुराना काम चुना, तब जाकर रण्डी शब्द का अर्थांतर हुआ। रण्डी का पहले अर्थ था— शाही महिलाएँ।

निवेदिता : मैंने जो सवाल रखा उसे आप लोगों ने सच्ची नारीवादी शैली में और ज़्यादा पेचीदा कर दिया। ज़ाहिर है कि पहचान को लेकर आख़िर में बहुत ही अनसुलझे क़िस्म के सवाल उठे हैं। फ़राह यह कह रही हैं कि हमें अपने समुदाय के बाहर के मसलों पर भी बोलना चाहिए। लेकिन बोलते ही जो उस समुदाय के हमारे सहयोगी हैं, मसलन मुसलमान समुदाय में जो नारीवादी हैं, वे हमसे यह पूछ सकती हैं कि आप यह सवाल क्यों उठा रही हैं, हमें सवाल उठाने दीजिए। हमने सुना है, मेरे साथ हुआ है और एक दोस्त के साथ भी हुआ है कि जब हम जाति के बारे में बोलते हैं तो बहुत ही प्रतिभाशाली दलित विद्यार्थी यह पूछते हैं कि आप सवर्ण लोग आम्बेडकर को क्यों पढ़ते हैं, क्या हक़ है आपको आम्बेडकर को पढ़ने का या आम्बेडकर के बारे में बोलने का। मैं समझती हूँ कि यह सवाल कहाँ से आ रहा है।

उन्हें यह लगता होगा कि हमारे आंदोलन के बल के कारण आम्बेडकर पाठ्यक्रम में आ गये, लेकिन अब आम्बेडकर को भी आप ले जाएँगे, तो हम कैसे करेंगे। तो, मैं समझती हूँ कि यह सवाल कहाँ से आ रहा है, लेकिन जब आम्बेडकर के बारे में नहीं बोलते तो कहा जाता है कि आप सवर्ण लोग आम्बेडकर के बारे में बोलते ही नहीं है। मैं यह नहीं कह रही हूँ कि उनके प्रश्न ग़लत है, लेकिन मुझे इसमें एक अलग तरह का तनाव दिख रहा है और हम इस तनाव से कैसे जूझेंगे यह एक अलग तरह का प्रश्न है।

अभी तक हमने परिवार और अंतरंगता जैसे मसलों पर विचार नहीं किया है। अर्चना उसके पहले एक और बात कहना चाहती हैं।

अर्चना : हममें से प्रत्येक के पास अनेक अस्मिताएँ हैं और वे अलग-अलग वक़्त पर अलग-अलग तरीक़े से सक्रिय होती रहती हैं। सच कहें तो स्त्री के रूप में हमारी अस्मिता तो केवल उसी वक़्त मुखर होती होगी, जब स्त्रियाँ विरोधी पुरुषों के समूह का सामना करती होंगी, और वे ख़ुद को अकेली, थोड़ी डरी हुई और कमज़ोर महसूस करती होंगी। इसलिए हम कभी भी केवल स्त्री तो नहीं होते हैं, बल्कि समय-समय पर बहुत कुछ होते रहते हैं। हम जो बात कर रहे हैं, उसमें शुरू से ही एक बात परेशान कर रही है। रजनी ने सेक्स वर्कर (यौनकर्मियों) की बात की। यह एक ऐसी अस्मिता है जिस पर समाज ने चारों ओर से शर्मिंदगी का बोझा डाल रखा है। उनके साथ एकजुटता दिखाना एक बड़ा प्रश्न है। इसके लिए हिम्मत की आवश्यकता है।

आंदोलनों में इस तरह की एकजुटता आ सकती है, उसमें यह सवाल भी उभर कर सामने आएगा कि नेतृत्व किसके हाथ में रहेगा। इस तरह की एकजुटता आवश्यकता है। यह एक अलग प्रश्न है कि क्या इस तरह की एकजुटता समाज में इस काम को वैधता और सम्मान दिला सकती है? मैंने पहले भी यह लिखा है कि सेक्स वर्कर या रण्डी के साथ हमें बहुत ही सम्मान से पेश आना चाहिए क्योंकि वह बहुत ही हिम्मत और संकल्प वाली औरतें हैं। एक ऐतिहासिक बात यह है कि रण्डी मूल रूप से

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 115

एक सम्मानित महिला के लिए इस्तेमाल होने वाला शब्द था। यह लाल क़िले में रहने वाली स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होता था। लाल क़िला उजड़ने के बाद ये चाँदनी चौक आ गयीं और उन्होंने अपनी आजीविका के लिए यह सबसे पुराना काम चुना, तब जाकर रण्डी शब्द का अर्थांतर हुआ। रण्डी का पहले अर्थ था— शाही महिलाएँ।

III

इंटीमेसी, सेक्शुअलिटी और परिवार

निवेदिता : अब मैं एक तीसरा मुद्दा आपके सामने रखूँगी और वह है परिवार, अंतरंगता, सेक्शुअलिटी से जुड़े सवाल। इस परिचर्चा में पहली बार बात रखते हुए इस पहलू पर ज़ोर दिया था कि परिवार के ख़िलाफ़ हमारे हथियार भोथरे पड़ गये हैं। तो मेरा प्रश्न यह है कि नारीवाद में परिवार, हेटरोसेक्शुलिटी (इतरलैंगिकता) को लेकर काफ़ी आलोचना रही है। हमने उस पर काफ़ी ध्यान दिया है। लेकिन क्या अब हम वैवाहिक परिवार की हिंसा पर काफ़ी ध्यान देते हैं, लेकिन एक परिवार जिसमें हमारा जन्म हुआ है, उसकी बुनियाद में निहित पितृसत्तात्मक विचार की आलोचना हमने छोड़ दी है? मुझे लगता है कि ऐसा हुआ है। इसके अलावा जब हम सामान्य नागरिक संहिता या विवाह संस्था की बात करते हैं तो हम मोनोगमी (एक विवाह प्रथा) पर काफ़ी जोर देते हैं। यह माना जाता है कि यह प्रगतिशील रूप से एक उच्चतर चरण है और हम सब को इसकी ओर जाना चाहिए। जिन समुदायों में मोनोगमी नहीं है, उन्हें इसे अपनाना चाहिए। लेकिन इसके समानांतर एक बहुत ही मजबूत क्वियर आंदोलन भी सामने आया है। और हममें से बहुत से लोग ख़ुद को किसी-न-किसी तरह से क्वियर मानेंगे। यदि हम क्वियर आंदोलन द्वारा मोनोगमस हेटरोसेक्सुअल परिवार की आलोचना को मुख्यधारा के नारीवाद में लाते हैं तो हम इस तरह के सवाल कैसे उठाएँगे? ज़ाहिर है कि अब हम नारीवादी आंदोलन में अनॉर्थोडॉक्स इंटीमेट (अंतरंग) संबंधों की बात नहीं उठाते हैं। हम कहते रहते हैं कि व्यक्तिगत ही राजनीतिक है, लेकिन कभी भी सार्वजनिक चर्चा में हम अपने सेक्शुअल इच्छाओं पर बात नहीं करते हैं। तो क्या परिवार पर जिस तरह हमला होना चाहिए वह नहीं हो रहा है? क्या अब हर समुदाय में एक तरह के परिवार का प्रतिरूप बनाने की कोशिश हो रही है। तो मेरा सवाल यह है कि इंटीमेसी, सेक्शुअलिटी और परिवार के मसले पर नारीवादी आंदोलन की अभी क्या स्थिति है, इसमें क्या बदलाव हुआ है?

रजनी : मैं यहाँ एक बात दोहराना चाहूँगी कि दलित नारीवाद और मुख्यधारा के नारीवाद पर एक लम्बी बहस है। इसका कारण है कि इतने समय से जो समाज पृथक् रहे हैं, उन समाजों में व्यक्ति का विकास कैसे होगा? क्या वह परिवार के भीतर होगा या परिवार से अलग होकर होगा। मैं अपना ख़ुद का एक अनुभव बाँटना चाहती हूँ। जब मैंने अपने नारीवादी मित्रों के साथ काम करना शुरू किया तो हमें काफ़ी आक्रामक रुख़ रखना सिखाया गया, यानी कोई भी शोषण होता है तो हमें घर छोड़ देना चाहिए। मैं छोड़ कर भी आयी, लेकिन फिर मुझे ज़मीन पर तारे नज़र आये। मेरे पास सरकारी नौकरी थी, लेकिन अपना घर नहीं था। अपनी छोटी सी बेटी को लेकर मैंने चार मकान बदले। मैं उसे क्रैच में छोड़ कर ऑफ़िस जाती थी। दोपहर में उसे घर लेकर आती थी। मेरी कई अन्य सहेलियों ने भी 'ब्रेक-अप' किया, लेकिन उनके पास सब संसाधन थे, नौकर-मकान आदि सब कुछ था। इतने साल पालने-पोसने के बाद जब मेरी बेटी 13-14 साल की हुई तो मैं उसे कोई सुविधा नहीं दे पाई। उसे

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 116

डांस सीखना था, वह नहीं सीख पाई। उसे नाटक देखने थे, मैं नहीं दिखा पाई। एक बच्चे के विकास के लिए जो माहौल चाहिए, वह उपलब्ध नहीं था।

मैं कहना यह चाहती हूँ कि हमें परिवार चाहिए, लेकिन उसमें तानाशाही, पित्तृसत्ता नहीं, बल्कि लोकतंत्र चाहिए। महिला आंदोलन ने पहले स्त्रियों को संवेदनशील बनाया, अब पूरा एनजीओ-करण होने के बाद वे पुरुषों को संवेदनशील बना रहे हैं। जब मैं घर छोड़ कर आयी, तो मैंने देखा कि मेरे जीवन, और इसी तरह से घर छोड़ कर आने वाली मेरी सहेलियों के जीवन में ज़मीन आसमान का अंतर था। वे भी किसी पुरुष के बिना नहीं रह रही थीं। कोई न कोई तो था ही ज़िंदगी में। वह पति नहीं था, तो कोई दोस्त था। लेकिन मेरी ज़िंदगी में इतना संघर्ष था कि हम अपनी नौकरी और अपने बच्चे से ध्यान ही नहीं हटा पा रहे थे कि हम सोच सकें कि हम भी एक व्यक्ति हैं।

तो नारीवाद की जो आलोचना आयी है उसके पीछे मुख्य कारण यह है कि इसमें अलग-अलग जाति, वर्ग आदि की पृष्ठभूमि और उससे महिलाओं के विकल्प पर पड़ने वाले प्रभाव पर ग़ौर नहीं किया जाता। कौंसिलिंग के लिए जब महिलाएँ आती थीं तो हम पहले उन्हें अपनी सोच बताते थे और फिर पूछते थे कि वे क्या चाहते हैं। मेरे ऐसी कई निम्न मध्यवर्गीय परिवारों की महिला दोस्त हैं, जिनका अपने पति से संबंध ख़त्म हुआ, लेकिन वे कभी सँभल नहीं पाईं। मैं यह नहीं कहती कि वे हिंसा से भरे परिवार में रहकर सँभल जातीं, लेकिन जो उनके बच्चे हैं उन्होंने भी उनका बहुत शोषण किया। जब एक अकेली औरत रहती है, तो पहले जितना उसका घर में शोषण होता था उससे ज़्यादा बाहर भी होता है।

तो मुझे लगता है कि हर मनुष्य को विकसित होने का एक वातावरण चाहिए, एक सामाजिक परिवेश चाहिए और साथ में एकजुटता चाहिए। महिला आंदोलन ने एकजुटता दी है, एक बहनापा दिया है। लेकिन वह बहनापा कहीं न कहीं आपके वर्ग के साथ जुड़कर रहता है। दलित नारीवाद का यह मानना है कि हमें परिवार चाहिए, किंतु पित्तृसत्तात्मक नहीं बल्कि लोकतांत्रिक परिवार चाहिए। हमें राज्य भी चाहिए, लेकिन वो भी लोकतांत्रिक होना चाहिए। और एक मनुष्य - आदमी हो या औरत एक सामाजिक प्राणी है, वह अकेला नहीं जी सकता। उसे समूह में रहना होगा। हमें परिवार भी समाजवादी चाहिए। मैं यह मानती हूँ कि इन सब चीज़ों की आलोचना हमने आत्मसात् कर ली है तो बहुत अच्छा है। लेकिन यदि ऐसा नहीं किया है तो हमें सोचना है।

अर्चना : अभी परिवार और कामना जैसे विषय स्त्री द्वारा रचित साहित्य और कुछ हद तक पुरुषों द्वारा लिखे जा रहे साहित्य में छाए हुए हैं। मैंने शुरू में आपको यह बताया कि मैं स्त्री-विमर्श के बारे में सैद्धांतिक रूप से उतना नहीं जानती हूँ, लेकिन मैंने *हंस* के लिए एक स्त्री विशेषांक सम्पादित किया था। उसके सम्पादकीय का विषय मैंने रखा था : 'परिवार-सत्ता और स्त्री विमर्श।' मुझे लगता है कि हमारे अपने संदर्भ में पित्तृसत्ता से भी ज़्यादा कारगर संकल्पना परिवार-सत्ता है। असल में, परिवार-सत्ता के दायरे के भीतर स्त्री-पुरुष दोनों ही अपनी-अपनी तरह से मजबूर हुआ करते हैं। जैसे पुरुष को सबके सामने यह दिखाना होता है कि वह दब्बू नहीं है, पत्नी उसके क़ाबू में है और वह ही मैन जैसा है। और अगर बीवी थोड़ी पढ़ी-लिखी और अपनी सोच रखने वाली है, तो ऐसा लगता है कि वह परिवार के लिए सबसे डरावनी चीज़ है। और सबसे ज़्यादा कहानियाँ पढ़ी-लिखी और सोचने-समझने वाली औरतों के घुटन की हैं।

वे कोशिश करती हैं कि कैसे भी सब सही-सही चलता रहे। कहानियों में दूसरा विषय स्त्री के सेक्शुअल इच्छाओं की स्वीकार्यता से संबंधित है। इन कहानियों को हमारा पाठक समुदाय 'बोल्ड' और 'बेशर्म' कहानियाँ मानता है। शायद लोग छिपा कर ऐसी कहानियाँ पढ़ते भी होंगे। इसीलिए राजेंद्रजी ऐसी कहानियों के ऊपर लिख दिया करते थे कि महिलाओं और बच्चों से छिपा कर पढ़ें।

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 117

... हम अपनी सेक्शुअल इच्छाओं पर बात नहीं करते हैं। तो क्या परिवार पर जिस तरह हमला होना चाहिए वह नहीं हो रहा है? क्या अब हर समुदाय में एक तरह के परिवार का प्रतिरूप बनाने की कोशिश हो रही है? ... इंटीमेसी, सेक्शुअलिटी और परिवार के मसले पर नारीवादी आंदोलन की अभी क्या स्थिति है, इसमें क्या बदलाव हुआ है?

ऐसे बहुत से सवालों को उठाने की वजह से ही *हंस* एक ख़ास क़िस्म की पत्रिका रही है। पिछले दिनों मैंने रमणिका फ़ाउंडेशन में रमणिकाजी के साथ मिलकर 'हाशिया उलाँघती औरत' के विषय में एक प्रोजेक्ट किया। इसमें दो-तीन भाषाओं को छोड़कर शेष सभी भारतीय भाषाओं में औरतों के अनुभवों को समेटा गया है। इसका एक खण्ड हिंदी से भी संबंधित है। इसमें मध्यवर्गीय महिलाओं के अनुभवों को शामिल किया गया है। इस संदर्भ में बंगाली, पंजाबी, मराठी आदि अलग-अलग भाषाएँ बोलने वाली महिलाओं के उत्पीड़न के तरीक़े अलग-अलग हैं क्योंकि पारिवारिक रीति-रिवाज़ों और परम्पराओं में अंतर है। लेकिन मूल मुद्दा एक सा है— स्त्री का दर्जा दोयम है, स्त्रियों को पुरुषों की बातें माननी हैं, हर तरह के 'एडजस्टमेंट' करने की ज़िम्मेदारी औरतों की हैं। लेकिन ऐसा करते हुए स्त्री के मन में घुटन है और कई मौक़ों पर वो परिवार के दायरे को तोड़ कर आगे निकल जाना चाहती है।

कई बार कई महिलाएँ परिवार के दायरे को तोड़कर निकल भी आती हैं। ऐसे मामलों में अक्सर लगता है कि शायद ठीक किया या फिर यह भी लगता है कि ठीक नहीं किया, अगर दूसरा थोड़ा अच्छा व्यवहार रखता तो यह नौबत नहीं आती। इस प्रोजेक्ट पर काम करने के बाद 'परिवार-सत्ता' के बारे में मेरी धारणा और भी मज़बूत हुई है। महिलाएँ पितृसत्ता से ज़्यादा परिवार-सत्ता के दबाव में है। पिता तो एक बुज़ुर्ग की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते थोड़ा ढीला हो जाता है। लेकिन माँ ज़्यादा हावी होती है, तो हमारे समाज में जो 'मामाज बॉयज़' हैं, वे इसी नियंत्रण का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कहना पर्याप्त नहीं है कि ऐसी स्त्री ने पितृसत्ता को आत्मसात् कर लिया है। 'औरत का औरत का दुश्मन' होने वाली बात सिर्फ़ वर्चस्व के झगड़े को लेकर है। यह मसला मर्द बनाम औरत तथा औरत बनाम औरत के झगड़े के मूल में भी यही बात होती है। मर्द बनाम मर्द में तो यह और भी ज़्यादा ख़ूनी क़िस्म का हो जाता है। अब औरत में यह हिम्मत दिखाई दे रही है कि वह 'मैं चुप रहूँगी' के पुरानी परम्परा को तोड़कर आगे आ रही है, तथा उसके भीतर 'मैं कहूँगी और सबके सामने कहूँगी' की हिम्मत भी आयी है।

परिवार और विशेष रूप से दाम्पत्य पर आधारित परिवार बहुत ही नाजुक क़िस्म की संस्था बन चुकी है। और परिवार में सिर्फ़ विवाह आधारित परिवार की ही बात नहीं है, बल्कि अन्य संबंधों पर आधारित परिवारों का भी अस्तित्व है। इसलिए, रजनी जो कह रही हैं वह ठीक है कि हमें परिवार की आवश्यकता है, लेकिन वह हमारी अपनी समझ और इच्छाओं के अनुरूप होनी चाहिए। साथ ही, यह व्यवस्था भी होने चाहिए कि जो शादी नहीं करना चाहता/चाहती, वह भी सुकून से जी पाए। ख़ास तौर पर, जो हमारे हिंदी पाठक समुदाय के लोग हैं, जो छोटे शहरों में रहते हैं, उसमें ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है जो अकेले रहना चाहते हैं।

लेकिन जो लड़कियाँ अविवाहित हैं, उनके बारे में यह बात भी सामने आ रही है कि उनके माता-पिता का परिवार उनका पुराने तरीक़े से ही शोषण करता है। भाइयों की शादियाँ ज़रूर हो जाती हैं और पहले से ही यह तय हो जाता है कि उसका कौन सा प्रिय भतीजा उसकी सम्पत्ति का वारिस होगा। हालाँकि हिंदी साहित्य की दुनिया में पढ़ी-लिखी और पूरी तरह अपना ख़्याल रखने वाली स्त्रियाँ कम

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 118

बन पाई हैं, किंतु इनकी संख्या बढ़ी है। हालाँकि ऐसी अविवाहित लड़कियों की संख्या बढ़ गयी है जिन्हें अपने माता-पिता के परिवार द्वारा अच्छी तरह निचोड़ा जाता है। अब इनको लेकर आंदोलन जैसा तो कुछ हो नहीं सकता। लेकिन 'व्यक्तिगत राजनीतिक है' की तर्ज पर इनके बारे में काफ़ी विमर्श करने और लिखने-पढ़ने की आवश्यकता है। यह ज़रूरी है कि एक ऐसा संवाद चले जिसमें स्त्री को ख़ुद को समझने में, अपने आत्म की संरचना करने में मदद मिले।

निवेदिता : आपने जो कहा कि अकेली महिलाओं के बारे में कोई आंदोलन जैसी चीज़ नहीं है, तो मैं बस यह जोड़ना चाहती हूँ कि एक एनजीओ है 'जागोरी', जिसने एकल महिलाओं के लिए एक अभियान चलाया था। मैं सिर्फ़ जानकारी के लिए यह जोड़ना चाहती हूँ कि एकल महिला-जो विधवा या अपनी मर्ज़ी से अकेले रहने वाली महिला हो सकती है, उसके लिए भी कुछ समूह एक आंदोलन सा चला रहे हैं।

अनीता : अर्चनाजी, आपने उन बहुत सारे प्रश्नों पर बातें की जो मेरे दिमाग़ में भी आती रहती हैं। मैं यहाँ अपनी पहचान से जोड़कर ही बातें कहूँगी। मैंने जब 22-23 साल पहले अपने पिता से, जो अब इस दुनिया में नहीं हैं, यह कहा कि मैं अकेले रहना चाहती हूँ, तो उन्होंने अपना एक पुराना फ़्लैट देते हुए यह इजाज़त दे दी। लेकिन मेरी माँ यह मानती नहीं थी। जब मैं शिफ़्ट हुई, तो मेरी माँ रात में बारह बजे तक वहाँ बैठी रहीं। मैंने उनसे यह कहा कि मैं घर वापस आ जाऊँगी अगर आप लिख कर दें कि आप हमेशा ज़िंदा रहेंगी। उन्होंने कहा कि यह कैसे हो सकता है। तो मैंने कहा कि अगर यह नहीं हो सकता है न, तो फिर आप जाइए। लेकिन मेरे पिता ने यह कहा कि जो भी तू कहती है वह मैं समझता हूँ, और यह समाज जो नियम-क़ायदे लागू करता है वे तेरे लिए नहीं हैं क्योंकि इसने कभी तुम्हारी या तुम्हारी भावनाओं की इज़्ज़त नहीं की है। और मैंने उनसे यह कहा भी, और शायद मैंने यह लिखा भी है कि कभी किसी ने मुझे देख के सीटी भी नहीं बजाई। जब मेरे पिता मेरी 'डिज़ायर' के बारे में बात कर रहे होते तो वे अर्जुन और कृष्ण के संवाद का उदाहरण देते हुए अपनी बात कहते थे। एक तरह से ऐसे संवादों में भी पितृसत्ता थी। मेरा एक ब्वॉयफ्रेंड था, जिससे मैं शादी करने के बारे में सोचती थी।

और, यहाँ सिर्फ़ मेरी अपनी बात नहीं है बल्कि मेरे कई विकलांग बहनों के लिए भी, जो मुझे अक्सर दीदी कहती हैं, विवाह एक बड़ा सवाल रहता है। कई बार मैं ख़ुद को अपराध बोध से घिरा भी पाती हूँ कि मैं 'डिज़ायर' की बात करती हूँ, मैं एक मनोविज्ञानी हूँ तो मुझे 'डिज़ायर' का मतलब भी समझ में आता है। तो मैं अपनी माँ से यह नहीं कह सकती थी कि मेरा एक ब्वॉय फ्रेंड है, जिसे मैं घर बुला सकती हूँ और उसके साथ समय बीता सकती हूँ। मेरा पिता ने कहा कि यदि तू अपनी माँ को यह बात बोलेगी तो उसे हार्ट अटैक आ जाएगा। तो मुझे लगा कि वे कह रहे हैं, तो ठीक है मुझे अपनी माँ को नहीं बताना चाहिए। मेरी दादी ने एक दिन पूछा कि तू सच में शादी करना चाहती है। मैंने कहा कि सच में चाहती है क्या होता है, अगर होना होगा तो कर लेंगे। मेरी दादी विभाजन के बाद भारत आयी थीं और उसके पहले ही उनके पति यानी मेरे दादा की मौत हो गयी थी। उन्होंने मुझसे पंजाबी में कहा कि 'मैं ये कहना जाहदी कि बिलकुल नरक होएगा, पर तू चाहदी है, तो हो सकता है' (मैं यह कहना चाहती हूँ कि शादी बिलकुल ही नरक साबित होगी, लेकिन अगर तू चाहती है तो कर सकती है)। उनकी इन बातों से मैं भी भ्रम में पड़ गयी कि नरक कह रहे हैं तो मैं क्यों करूँ शादी। मैंने कहा कि फिर यहीं ठीक है।

अब मेरी दादी और पिता दोनों ही इस दुनिया में नहीं है। मेरी माँ अभी हैं और मैं आज जो भी हूँ उसे बनाने में उनका बड़ा योगदान है। लेकिन मैं उनसे 'सेक्शुअल डिज़ायर' जैसे विषय पर बात नहीं कर सकती हूँ। ऐसे बात करने पर वे सीधे तौर पर एक थप्पड़ मुझे मार देंगी। और विकलांग होने का

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 119

कई बार यह हो सकता है कि हम आंदोलन के लिए कोई ऐसी रणनीति अपनाएँ, जिससे हमारा सैद्धांतिक कार्य धीमा हो जाए। मसलन, आंदोलन में एक रणनीति के तहत अगर यह समझ बनती है कि अभी मंगलसूत्र को पूरी तरह नकारने का समय नहीं है, तो क्या इससे हमारी सैद्धांतिक समझ भी कमज़ोर पड़ती है? यह मेरे लिए एक सवाल है।

अर्थ है कि आपको परिवार की मदद चाहिए, आपको अपने भाइयों, भाभियों की भी सहायता भी चाहिए। मेरे छोटे भाई ने मुझसे कहा कि देख कुछ चीज़ें 'अंडर दि कॅवर' (पर्दे के पीछे) रहनी चाहिए, ऐसा होगा तो तू खुश रहेगी, लेकिन इसको बाहर समाज के सामने नहीं लाना है। मैंने कहा कि मैं नारीवादी हूँ, सब चीज़ों के बारे में बोलती हूँ और तू मुझे बोल रहा है कि 'अंडर दि कॅवर' कर। उसने कहा कि और कोई तरीक़ा है ही नहीं, इसमें सिर्फ़ तुझे ही दुख होगा; या फिर तू ऐसा कर कि किसी और जगह रह, यहाँ हमारे सामने मत रह।

चूँकि मेरी 32 साल की नौकरी थी, तो मैंने अपना घर भी लिया। लेकिन फिर मुझे कैंसर हो गया और मुझे परिवार के दायरे में आना पड़ा। उसके बाद मेरे लिए यह मुश्किल था कि मैं वापस जा पाती। मुझे लगता है कि अपने 'डिज़ायर' को 'अण्डर दि कॅवर' ही जिया जा सकता है। हालाँकि मैं यह भी मानती हूँ कि यह कोई हल नहीं है क्योंकि इसमें भी एक अलग तरह की हिंसा आने का ख़तरा रहता है। मेरी एक विकलांग साथी ने बहुत ख़ुशी से मुझसे यह कहा कि दीदी मैं एक रिलेशनशिप में हूँ और मुझे बहुत अच्छा लग रहा है कि मैं किसी से प्यार कर सकती हूँ। मैंने उसकी बात सुनी और बहुत ख़ुश भी हुई, लेकिन मैंने पूछा कि वो कौन है। तो उसने कहा कि दीदी वह शादीशुदा है। मैंने कहा कि ठीक है, पर वह तुम फ़ैसला करो, लेकिन तुम उससे मिलती कहाँ हो। उसने कहा कि मैं उससे एक दोस्त के घर में मिलती हूँ। चूँकि मैं उससे बड़ी हूँ तो मैंने उससे पूछा कि क्या तुम्हारे पास पता वग़ैरह है और क्या तुम कुछ 'प्रिकॉशन' वग़ैरह लेती हो। उसने कहा कि मेरे पास उसका मोबाइल नम्बर है, लेकिन चूँकि मेरे पार्टनर को 'प्रिकॉशन' पसंद नहीं है इसलिए मैं नहीं लेती।

उसकी यह बात सुनकर मुझे बहुत डर लगा। मुझे लगा कि मैं जिस समूह के साथ बातें करती हूँ, उन्हें मैं क्या सिखा रही हूँ। मेरे लिए यह बड़ा सवाल था। मेरे इन सवालों से मेरी वह दोस्त इतनी गुस्सा हो गयी कि उसे आगे से कभी मुझे फ़ोन ही नहीं किया। शायद मैं उसकी हिफ़ाज़त करना चाह रही थी, और इसके चलते मेरा व्यवहार भी पितृसत्तात्मक व्यवहार के नज़दीक पहुँच गया था। यह हास्यास्पद और दुखद दोनों ही है। मैं अपनी नारीवादी दोस्तों के साथ थोड़ी खुश रह सकती हूँ क्योंकि मैं उन्हें अपनी बातें साफ़-साफ़ बता सकती हूँ। लेकिन एक समुदाय के रूप में यह कहना कि वहाँ ऐसी एकजुटता हो सकती है, तो मुझे लगता है कि वहाँ बहुत सारे सवाल रहेंगे।

फ़राह : इस मुद्दे पर मैं दो तीन टिप्पणियाँ देना चाहूँगी। जहाँ तक यौनिकता का प्रश्न है हम पिछले दस-पंद्रह सालों में युवा पीढ़ी में बदलाव देख रहे हैं। मैंने तो पहली बार तब देखा जब हमारे इलाक़े की ज़िम में खूब टाइट, और जिन्हें हमारी दादी कभी-कभी 'बेशरम' कहती हैं, वैसे कपड़े पहने लड़कियाँ व्यायाम कर रही हैं। मैंने सोचा कि इन नौजवान लड़कियों के लिए अपने शरीर से प्रेम यह बहुत ही अच्छी और सकारात्मक बात है। फिर धीरे-धीरे जब उनसे बात शुरू हुई तो यह पता लगा कि वे सेक्स और यौनिकता के बारे में बहुत खुले रूप में बात करने को तैयार भी थीं, लेकिन शादी के दायरे

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 120

में। फिर मैंने उन्हीं लड़कियों को कुछ हफ़्ते बाद देखा कि ज़िम में वे चूड़ा पहन कर आयी थीं और उनके ज़िम कपड़ों के नीचे मंगलसूत्र था। मैंने तक़रीबन पंद्रह बरस पहले इस बारे में लिखा भी था।

मुझे लगता है कि मुक्ति और यौनिकता के अर्थ पर ज़्यादा ग़ौर करने की आवश्यकता है क्योंकि इनका अर्थ बदल रहा है। हम इस बदलते मायने को कुछ हद तक पकड़ रहे हैं और कुछ हद तक नहीं। ये मेरी एक टिप्पणी है। दूसरा, हम बात करते हैं प्राथमिकता की। अक्सर एक बहुत ही नैतिकतावादी दृष्टिकोण सामने आता है कि जहाँ रोज़ी-रोटी का सवाल हो, जहाँ संरक्षण, सुरक्षा और इंसाफ़ का सवाल हो, वहाँ आप कहाँ यौनिकता लेकर आ रहे हैं। यौनिकता हमारे लिए विलासिता की चीज़ जैसी लगती है। पहले रोज़ी-रोटी और अन्य बहुत सारी बातें सुनिश्चित होनी चाहिए, उसके बाद यौनिकता के बारे में बात होनी चाहिए। मुझे नारीवाद के संदर्भ में बहुत सी सकारात्मक बातें भी लगती हैं, एक तरफ़ आंदोलन है तो दूसरी ओर गहन सैद्धांतिक विवेचना भी और दोनों एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। लेकिन कई बार यह हो सकता है कि हम आंदोलन के लिए कोई ऐसी रणनीति अपनाएँ, जिससे हमारा सैद्धांतिक कार्य धीमा हो जाए। मसलन, आंदोलन में एक रणनीति के तहत अगर यह समझ बनती है कि अभी मंगलसूत्र को पूरी तरह नकारने का समय नहीं है, तो क्या इससे हमारी सैद्धांतिक समझ भी कमज़ोर पड़ती है? यह मेरे लिए एक सवाल है।

अब मान लीजिए कि आंदोलन को यह लगता है कि भारतीय इतरलैंगिक पित्तृसत्तात्मक परिवार की विवेचना करना और कमियों को उधेड़ना और ख़ारिज करना एक ज़रूरी काम है, लेकिन एक रणनीति के तहत हम इसे आज नहीं करेंगे, कल नहीं करेंगे, परसों नहीं करेंगे, बल्कि बीस साल बाद करेंगे, तो निश्चित रूप से यह हमारे सैद्धांतिक दृष्टिकोण को कमज़ोर करता है। यदि हमारी रणनीति हमें इतना सुस्त कर देगी तो बेशक इसका असर हमारी सैद्धांतिक सोच पर भी पड़ेगा। तीसरा, यह हमेशा ही मेरे लिए अचम्भे की बात है कि जिसे हम मुख्यधारा का महिला आंदोलन कहते हैं, जितने मुद्दे आप चाहें ले लीजिए— गर्भपात, लिंग चयन, यौन उत्पीड़न, बलात्कार— सब के सब शरीर से जुड़े हुए हैं। शारीरिकता से हमारा इतना जुड़ाव है, लेकिन सकारात्मक सेक्शुअलिटी की तरफ़ हमारा ध्यान नहीं जाता। हमारा आंदोलन महिलाओं के शरीर पर होने वाले वार पर भी ध्यान देता है। हम सकारात्मक सेक्शुअलिटी को हमेशा ही अपनी प्राथमिकता में नीचे की ओर रखते हैं। यह मेरे लिए बहुत चिंता और परेशानी का मुद्दा है।

जो लोग यह कहते हैं कि अभी इन पर बात करने का सही समय नहीं है, उन सबसे मेरा यह कहना कि यकायक बदलाव नहीं होता है। यह मुनासिब नहीं है कि हम यह कहकर अपनी तैयारी ही छोड़ दें कि अभी सही वक़्त नहीं है। आख़िर बदलाव कैसे होता है? हमने नीतियों से संबंधित अपने काम में भी देखा है कि एक मुद्दे पर दस सालों तक काम हुआ, उस पर हमारा नज़रिया बदला, लोगों के साथ मतभेद हुआ, फिर हमने आम सहमति हासिल करने की भी कोशिश की। और जब हमें मौक़ा मिला हम तैयार थे और आख़िरकार हम कुछ इच्छित नतीजे हासिल करने में सफल हुए। इसलिए हमारी तैयारी पहले से रहनी चाहिए। अभी सकारात्मक सेक्शुअलिटी की काफ़ी कम चर्चा हो रही है, लेकिन मुझे लगता है उसमें पित्तृसत्तात्मक परिवार को ध्वस्त करने की काफ़ी क्षमता है। यदि हम इस चर्चा की उपेक्षा करते रहेंगे तो जब बदलाव का समय आएगा तो हम तैयार नहीं रहेंगे और अलग-अलग आंदोलनों में कोई आम सहमति नहीं होगी। इस मुद्दे पर यही मेरी दो-तीन टिप्पणियाँ हैं।

उर्वशी : निवेदिता, आपने जो प्रश्न किया है वह बहुत बड़ा प्रश्न है और मुझे लगता है कि जो हमारे सामने सीमित समय है उसमें इस पर पूरी चर्चा नहीं हो सकती है। इसलिए मैं भी फ़राह की तरह कुछ छोट-छोटे बिंदु रखूँगी। मुझे लगता है कि दुनिया के किसी भी नारीवादी आंदोलन ने न्यूक्लियर परिवार या मोनोगमस परिवार या विवाह की संस्था के मसले का पूरी तरह सामना नहीं किया है। हम

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 121

मैंने उन सबसे पाँच सौ शब्दों में उनकी ज़िंदगी में हुई किसी अप्रिय घटना के बारे में लिखने के लिए कहा। वहाँ कुल ग्यारह बच्चे थे, उनमें से तीन ने— दो लड़कियों और एक लड़के ने घर के भीतर यौन-उत्पीड़न के बारे में लिखा। मैंने जब इसके बारे में पढ़ा तो मेरी जान निकल गयी। मुझे लगा कि मैं किस तरह बच्चों के सामने इस मसले पर बात कर सकती हूँ और इन्हें सामने ला सकती हूँ।

इसमें अकेले नहीं हैं और यह बहुत ही मुश्किल सवाल है क्योंकि इसमें बहुत सी चीज़ें आती हैं। एक तो हमारा राज्य औरत को नागरिकता का अधिकार देने में पूरी तरह नाकाम रहा है। इसके चलते औरत के पास परिवार के अलावा कोई और सहारा नहीं रह जाता है और परिवार में ही उसके साथ सबसे ज़्यादा हिंसा होती है। उसकी स्थिति ऐसी है मानो वह शैतान और भगवान के बीच फँसी हुई हो। यानी औरत परिवार में फँस जाती है तथा परिवार के साथ घर जुड़ा हुआ है। औरत के पास ऐसे मौक़े नहीं हैं कि वह नौकरी कर सके, अकेली रह सके या अपनी ज़िंदगी बना सके, तो परिवार ही उसका सहारा है, और उसे भी एक परिवार बनाना है ताकि उसे एक जगह मिल जाए, एक पहचान मिल जाए और एक अहमियत मिल जाए।

महिला आंदोलनों की एक्टिविस्टों के ख़िलाफ़, हमारे ख़िलाफ़ अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि हम परिवार और रिश्ता तोड़ने वाली महिलाएँ हैं। चूँकि हम ख़ुद उस समाज से आते हैं जहाँ से ये आरोप आते हैं तो हम इस आरोप का सामना करने में डरते हैं या संकोच करते हैं। और बहुत मुश्किल भी है क्योंकि आपको याद रखना है कि जब आप परिवार का सामना कर रहे हैं तो आपको यह याद रखना है कि आप उस सत्ता का सामना कर रहे हैं जो आपके निजी रिश्तों में है। आप जिन लोगों से प्यार करते हैं, वहाँ आपको यह देखना है कि किस तरह सत्ता का खेल वहाँ आता है। आप अपने पिता, पति या माँ को प्यार करते हैं और वही आपके ऊपर अपनी सत्ता हावी करते हैं। आप इसे कैसे समझेंगे या इससे कैसे जूझेंगे या एक बहुत ही मुश्किल प्रश्न है। मैं दो-तीन उदाहरण देने चाहूँगी जिससे कुछ बातें समझ में आती हैं। मैंने आम्बेडकर युनिवर्सिटी के बच्चों के साथ ग़ैर-कहानी (नॉन फ़िक्शन) लेखन पर एक वर्कशॉप किया था। मैंने उन सबसे पाँच सौ शब्दों में उनकी ज़िंदगी में हुई किसी अप्रिय घटना के बारे में लिखने के लिए कहा। वहाँ कुल ग्यारह बच्चे थे, उनमें से तीन ने— दो लड़कियों और एक लड़के ने घर के भीतर यौन-उत्पीड़न के बारे में लिखा। मैंने जब इसके बारे में पढ़ा तो मेरी जान निकल गयी। मुझे लगा कि मैं किस तरह बच्चों के सामने इस मसले पर बात कर सकती हूँ और इन्हें सामने ला सकती हूँ। मैंने उन्हें ई-मेल करके पूछा कि आपने इतनी निजी चीज़ लिखी है कि मैं कैसे इसकी चर्चा कर सकती हूँ, तो उन्होंने कहा कि मैम आप फ़िक्र मत कीजिए, हम आपस में बहुत बात करते हैं और हमारे दोस्त सब जानते हैं।

फिर हमने उनके अनुभवों पर क्लास में चर्चा की। बाक़ी छात्र-छात्राओं ने यह कहा कि मैम, सिर्फ़ तीन लोगों ने इन अनुभवों को लिखा है, लेकिन ग्यारह लोगों की इस क्लास में कम-से-कम नौ ऐसे हैं जिनके अनुभव इसी तरह के हैं। उन्होंने कहा कि हम लिख नहीं पाए, लेकिन आप बात कर रही हैं तो हम बता रहे हैं। तब मुझे महसूस हुआ कि परिवार के भीतर लड़कियों के ख़िलाफ़, लड़कों

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 122

के ख़िलाफ़, औरतों के ख़िलाफ़ कितनी हिंसा है। शायद हमने इस पर बहुत ही कम ध्यान दिया है। यह कहीं-न-कहीं सेक्शुअलिटी से भी जुड़ा हुआ है। मैं दूसरा उदाहरण देना चाहती हूँ, जो परोक्ष रूप से पहले उदाहरण से जुड़ा हुआ है। मैं अशोका युनिवर्सिटी में पढ़ाती हूँ। मेरी क्लास में कुल 120 लड़के-लड़कियाँ हैं। और मैं देखती हूँ कि 22-23 साल के इन लड़के-लड़कियों के दिमाग़ में सेक्स, सेक्शुअलिटी आदि को लेकर ढेर सारी भ्रांतियाँ होती हैं। उनको समझ ही नहीं आता है कि वे किस तरह इनका सामना करें। मेरा दिमाग़ 15 साल पहले की घटना की ओर चला जाता है। हमारे घर के सामने जो धोबी कपड़े प्रेस करता है। उसकी बड़ी बेटी बीना स्कूल में पढ़ती थी। सब यह कहते थे कि बड़ी अच्छी लड़की है। क्लास में उसके अंक भी बड़े अच्छे आते थे। घरवाले यह कहते थे कि दसवीं के बाद उसकी शादी कर देंगे। अपने आख़िरी परीक्षा के दिन बीना घर से भाग गयी। घरवाले इंतज़ार करते रहे, लेकिन लड़की नहीं आयी क्योंकि वह अपने प्रेमी के साथ भाग गयी थी। कई दिनों के बाद बीना अपने प्रेमी के साथ किसी दिल्ली से बाहर किसी रिश्तेदार के यहाँ मिली। उसकी माँ को बड़ी उलझन थी। जैसे कि अनीता ने कहा कि माँ के साथ सेक्स वग़ैरह की बातें नहीं हो सकती। माँ को यह चिंता थी कि जाति के बाहर वाले लड़के के साथ शादी हो सकती है या नहीं। बदनामी के डर से वह पुलिस को भी यह बात नहीं बता सकती थी। उसे अपनी बेटी से भी पूछना था कि क्या उसने इस आदमी के साथ संबंध रखा, क्या तुमने उसके साथ सेक्स किया? माँ यह नहीं पूछ सकी। उसने मुझसे पूछने के लिए कहा।

मैंने पूछा तो लड़की ने कहा कि नहीं, हम तो अलग-अलग कमरों में सोये। लेकिन एक महीने के बाद पता चला कि वह लड़की गर्भवती हो गयी है। इसके बाद उसकी माँ और भी परेशान हो गयी। मैं और उसकी माँ उसे लेकर एक डॉक्टर के पास ले गये। मैंने डॉक्टर से कहा कि इस लड़की से ऐसी ग़लती हो गयी है, जिसके चलते वह गर्भवती हो गयी है। डॉक्टर ने कहा कि मुझे तुमसे बात नहीं करनी है, तुम बाहर जाओ, मैं लड़की से बात करूँगी। डॉक्टर ने लड़की से पूछा तो उसने बताया कि उनका यह रिश्ता तीन-चार महीनों से चल रहा है। प्रश्न यह उठता है कि उनको जगह कहाँ मिली। हमने कभी उसकी सेक्शुअलिटी और डिज़ायर के बारे में कभी सोचा ही नहीं था। हमें कभी लगा ही नहीं कि ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि वह मध्य वर्ग की नहीं थी जो अपने सेक्शुअलिटी को इतनी अभिव्यक्ति तो दे सकते हैं। मुझे लगता है कि हमारे देश में बच्चों में एक सेक्शुअल क्रांति हो रही है, हम उसे पहचानते नहीं हैं, हम उसके बारे में बात नहीं करना चाहते और हमारे जो क़ानून हैं वो उन्हें समझते नहीं हैं। इसीलिए बच्चों के दिमाग़ में इतनी ज़्यादा भ्रांतियाँ पल रही है। हमें इसकी ज़िम्मेदारी ज़रूर लेनी पड़ेगी। कहीं न कहीं महिला आंदोलन को इस पर ध्यान देना पड़ेगा। लेकिन हम ये अभी समझे नहीं हैं।

निवेदिता : ज़ाहिर है कि हम जो ख़ुद को नारीवादी कहते हैं वे यौनिकता के दो चेहरों के बीच फ़ँस गये हैं। एक चेहरा हम बहुत अच्छी तरह पहचानते हैं, वह है ख़तरा और हिंसा वाला चेहरा, क्योंकि पित्तृसत्तात्मक समाज में बहुत ज़्यादा हिंसा है। लेकिन जो दूसरा चेहरा है जो चाहत और सुख से जुड़ा हुआ है, उस चेहरे को हम पहचानते नहीं हैं। और जब हम उसे पहचानते हैं तो जैसा कि अनीता ने बताया, हमें फ़ौरन ख़तरे की याद आती है। एक तरह से एक वैकल्पिक विमर्श की ज़रूरत है। यौनिकता के बारे में सुनते हुए मुझे लगा कि एक और पहचान जो यहाँ ग़ायब है, वह है नयी पीढ़ी का नारीवाद। हम सब 'आंटी पीढ़ी' के हैं।

मैं यह कहना चाहती हूँ कि नयी पीढ़ी, बीस से पच्चीस साल की लड़कियाँ कैसे सोचती हैं, ये ख़ुद उनसे सुनने की आवश्यकता है। मसलन, जब 'स्लट वॉक' हुआ तो हमारी पीढ़ी की नारीवादियों ने काफ़ी असहज महसूस किया कि विरोध जताने का ये क्या तरीक़ा है। मुझे लगता है कि यौनिकता के बारे में उर्वशी आपने भ्रांति और क्रांति— दोनों शब्दों का प्रयोग किया, और मुझे लगता है कि इस

06parisamvad:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 123

मामले में एक क्रांति जैसा कुछ हो रहा है। और क्रांतियाँ भ्रम का शिकार होती हैं, और होनी ही चाहिए, वरना वे स्तालिनवादी हो जाती हैं। मेरे ख़्याल से भ्रम से भरी हुई अराजकतावादी क्रांतियाँ ही होनी चाहिए। निर्भया बलात्कार के बाद जो नये लड़के-लड़कियाँ सड़कों पर उतरे, वे ख़ुद को नारीवादी नहीं कह रहे थे, लेकिन वे साठ-सत्तर फ़ीसदी नारीवादी सोच के थे। मैं यह कहूँगी कि नारीवादी सोच हमारी मिट्टी में जम गया है। अपने-आप को नारीवादी न कहने वाले लोग भी नारीवादी बातें सामने रखते हैं। इसलिए अभय 'सेक्शुअल रिवोल्यूशन' पर एक और परिसंवाद रखें, जिसमें तीस से कम उम्र वाले लोग हों और हम उसमें सिर्फ़ सुनने के लिए बैठें।

फ़राह : उर्वशी द्वारा प्रयोग किया गया 'क्रांति' शब्द शानदार है। यौनिकता को लेकर जो बदलाव हो रहे हैं और जो क्रांति हो रही है, उसका असर युवा माता-पिता या भविष्य में पिता बनने वाले लोगों पर काफ़ी पड़ रहा है। उन्हें इसका डर खाया जा रहा है। ऐसा लगता है कि लिंग चयन, और लिंग चयन पर आधारित गर्भपात की बढ़ोतरी तथा सेक्शुअल क्रांति और सेक्शुअल हिंसा की बढ़ोतरी के बीच सीधा संबंध है। यौनिक शुद्धता को बचाना और यौनिक हिंसा से सुरक्षा— दोनों ही चिंता के बड़े विषय हैं। ये दोनों ही युवा पुरुषों के परेशानी का बड़ा सबब है, जो भविष्य में पिता बनने वाले हैं।

निवेदिता : फ़राह की बात के साथ मैं यह जोड़ना चाहती हूँ कि यह दो पक्ष या चेहरे वाला सिंड्रोम नारीवाद के साथ ही हर चीज़ में चलता है। जिस तरह के ख़तरे की ओर फ़राह ने इशारा किया, उसके साथ-साथ यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि कई ऐसे जवान माँ-बाप भी हैं, जो अपने अपने बच्चे के साथ अलग तरह से बातचीत करते हैं। और ऐसा नहीं है कि सेक्शुअल क्रांति ने सिर्फ़ उच्च मध्य वर्ग को ही प्रभावित किया है। दरअसल, निम्न मध्य वर्ग और निम्न वर्ग में भी इस तरह के बदलाव आये हैं और इन वर्गों के माता-पिता भी बदल रहे हैं। मैं कहीं गयी हुई थी, जहाँ मैं एक ऐसे युवा बंगाली दम्पति से मिली जिनकी आठ साल की बेटी यह चाहती है कि लड़का बना जाए। ये युवा माता-पिता अपनी बेटी की इस बात को काफ़ी सहज तरीक़े से लेते हैं। उन्होंने मुझसे कहा उन्होंने अपनी बच्ची से कह रखा है कि जब वो अठारह साल की होगी तो वह इसके बारे में फ़ैसला कर सकती है, तब तक वह इस बात पर और ज़्यादा सोचे। ख़ास बात यह है कि ये माता-पिता अपनी बेटी की इस बात से परेशान नहीं है, लेकिन वे इससे सकारात्मक तरीक़े से जूझ रहे हैं। तो इस तरह की बातें भी हो रही हैं और मैं इस सकारात्मक पहलू के साथ इस चर्चा को ख़त्म करूँगी कि नारीवाद के मुद्दे घर-घर में पहुँच गये हैं।